

147

डॉ. ब्रह्मदत्त अवस्थी

८१४.८
ब्रह्म/सा

147

डॉ. ब्रह्मदत्त अवरुथी

८१४.८
ब्रह्म/सा

डा० अहमदल अवस्थी की इस पुस्तक में भारत देश की सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी स्थिति का जायजा लेते हुए पाठक के सामने मातृभूमि की एक सही और भास्वर नस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयास है। निबन्धों के 'अपनी धरती के आकाश तले', 'अकर्मण्यता की जज़ीरो में जकड़ा देश', 'लोककर्मव्य के निर्वाह के साधन' 'राष्ट्र ? स्वरूप ? साधना ! समस्या' आदि शीर्षक संकेत देते हैं कि ये निबन्ध जन-भाषण-शैली में हन कोन थे और क्या हो गये हैं पर विशेष रूप से प्रकाश डालते हैं। लेखक ने मनुष्य को 'जीवन-मान की इकाई' कहा है और जीवन को कर्म की भागीरथी। भारत कर्मभूमि था चीरभूमि था। वहीं देश अब अकर्मण्य बन गया है असौम सम्पदा-शाही देश, एक लम्बी सांस्कृतिक परम्परा भूल चुका है। लोकतन्त्र यहाँ मूल्यहीन हो गया है। आज निरक्षर विधायक उसे अपने अंगूठों से ठेस रहे हैं। 'लोक कर्मव्य के निर्वाह का साधन' इस प्रकार की समस्याओं पर प्रकाश डालता है। 'जन चेतना के नाहक प्रेम चन्द' तथा अन्य निबन्ध भी उम धारा की प्रेरक कहियाँ हैं। कुल मिलाकर पुस्तक उदबोधन शैली में लिखी गई देश की गाथा है। मैं लेखक को उसकी इस कृति के लिये बधाई देता हूँ !

डा० मोहन अवस्थी

डी फ़िल्, डी लिट्.

से नि प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हरन केर-मी 21 नोव

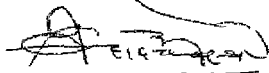
श्री श्री गुरुदेव गुरुदेव गुरुदेव

श्री 154 एर (परीक्षा नम)

युगाय विद्या विद्यालय

000

0000



1 8-88



विन्ध्युस्तानी एकेडेमी पुस्तकालय
इलाहाबाद

वर्ग संख्या..... २१६०८

पुस्तक संख्या..... अक्षर (स)

क्रम संख्या..... १०३१

द्वारा प्रेषित न है

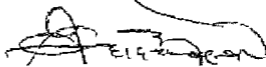
श्री अरवि प्रकाश कुमार

- डिप्टी एड (प्रिन्सिपल)

प्रधान विद्या विद्यालय

द्वारा

प्रेषित



१ ४-६४

साहित्य समाज और भारतीयता

(निबन्ध-संग्रह)

का
र्षी
मले म
पुम क
नी के
शकडा
रु ?
रु के
कील
शवाण
र डी
गिरध
र दण
की ?
इ
न नि
है।
रु दं
रु के
धर
कः
रु
रु



साहित्य समाज और भारतीयता

ब्रह्मदत्त अवस्थी



प्रतिभा प्रकाशन

7
7

प्रथम संस्करण : १९६०

मूल्य : पैंसठ रुपये

प्रकाशक : प्रतिभा प्रकाशन

५११ के० एल०, कीटगंज

इलाहाबाद—२११००३

मुद्रक : अनुषम प्रिन्टर्स

मथा बैरहना, इलाहाबाद

प्राक्कथन

श्री बृहद्दत्त अवस्थी का निबन्ध संग्रह 'साहित्य समाज और भारतीयता' मैंने देखा। भारत भाव को केन्द्र में रखकर ये निबन्ध लिखे गए हैं। लेखक भारत के गौरव को वर्तमान के ऋषित्व का घटक मानता है, वह शौरव के प्रति माहात्म्य भाव नहीं है। साथ ही वह भारत की वर्तमान दुरवस्था से बहुत पीड़ित है और बहुत ही नग्न और मार्मिक शब्दों में अपनी कथा बतोरना चाहता है।

मुझे विश्वास है लेखक के ये निबन्ध भारत की वृद्धि में सहायक होंगे।

बिद्यानिवास मिश्र

अ १
बन्धी
मने
रुन
ली
जक
गलु
केन
म जो
प्रक
न इ
लीर
नी
ली
का
न
र
न
ध
क

अनुक्रम

अपनी धरती के आकाश तले /	1
अकमण्डता की जंजीरो में जकड़ा देश /	21
लोक कर्तव्य के निर्वाह का साधन /	31
राष्ट्र ? स्वरूप ? साधना ! समस्या ! /	36
भरत से गोमती तक यात्रा एक रथ की /	43
राष्ट्र चैतन्य राम /	53
मृजन क घरातल पर आनन्दमयी अभिव्यक्ति की धारा /	57
जन चेतना के वाहक प्रेमचन्द /	61
मानव विकास के लिए राजपथ सुगोल /	66
समाज-साधना की पावन डगर-शिक्षा /	71
स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का उद्देश्य /	74
तिरंगा प्यारा /	78
यह पुण्य प्रवाह हमारा /	82
कर्म की भगीरथी /	91
उत्तर की प्रतीक्षा में तेरी माँ /	96
लोक चिन्तन की धारा /	100
प्रेमचन्द को कहानी 'कफन' - एक दृष्टि /	110
सामाजिक स्तरीकरण /	115



अपनी धरती के आकाश तले

खौंगोलिक भारत का उदय

सहस्रों वर्ष धरती का आकाश घूमता रहा। प्रतिमा-निर्माण के लिये आकाश पर, शक्ति के हाथों गूँथ कर रखी हुई मिट्टी, कुम्भकार की कुशल अँगुलियों की प्रतीक्षा करती रही और प्रकृति का कुम्भकार, डीडी पर हाथ रखे, सुगढ़ प्रतिमा की कल्पना में जोने में न जाने कब तक बैठा रहा। मस्तिष्क में कल्पना उभरी। हृदय उद्वेग उठा। सशक्त अँगुलियाँ चलते ही आकाश पर रखी मिट्टी से जा लगी। भूति उभरी, उभरती गयी और उसे उभारने में अँगुलियों ने विभाग नहीं लिया। तभी तो आज भी 'सगरमाथा' आकाश में ऊँचा-और-ऊँचा उठता जा रहा है। किन्तु कुशलता से 'अगरा' और 'दकन' के अँगुठों का सहारा दे, हिमाद्रि को ऊँचाई दी, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया को दूर फेंक, मिन्यु माथर और गंगामाथर को हहरती गहराई दी और दिया पूर्ण स्वस्थ गोपननम धरती, अपनी प्रिय कल्पना की प्रतिमा को।

आकाश को घूमने वाला अपना पर्वत, अतल गहराइयों को मापने वाला अपना सागर और ऊँचाई के गले, सागर के उफनते प्यारे जल-गुण्णों का हार पहनाने वाला, भारतीय प्रकृति का अपना अनूठा वर्षाक्रम-मानसून प्रतिमा को सौन्दर्य की देवी और सम्पन्नता का घर बनाने में जुट गये। ग्रीष्म में लप्त धरा की प्यास की पीर भला सागर कब और कैसे सहता। उफना, मेघों की नागर में अमृत-ता जब भर वर्षा का प्रथम चरण चला और चलता रहा जब तक हिमाद्रि के गले लग समग्र भारत की धरती की जल ने सिंचित नहीं कर दिया और धरती ने प्यार से उमंग अपने वक्षस्थल पर गुण्णों का सौन्दर्य और नक्षत्र बिखेर दस अत-दसंत—नहीं कह दिया। यही ग्रीष्म में वसंत तक की मेघ-यात्रा, भारतीय काल की इकाई बने बनी।

प्राचीनतम चट्टान, दकन पर नवीनतम कोमल कणों की चादर—गंगा-मिन्धु का मैदान लपेटे, सतत प्रवाहिनी मण्डिताओं—गंगा, सिन्धु ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा, कावेरी की कल-कल ध्वनि से अचल खड़े शिखरों—महेन्द्र, मलय, श्याद्रि, देवा, विन्ध्य, अरावली हिमाद्रि की धाटियों को, भरत भू-गुणित करने

लगा । साइबेरिया का नीत हिमाद्रि पर आ डटा और सहारा की तपन राजस्थान की सोब मे मभा भयी काशो की वर्षा केरफूजी ने मत हुई ता ईरान को गुफ्तार करावली की अट्टानो पर मिर धुतने लग गयी । भूमध्य सागर को फलवती सामुद्र्य भारत के आन, अमरुद, सेव और मन्तरे म भा बसरे, इटली, फ्रास और स्वीटजरलैण्ड के घुपा की मघ कमल, कुमोदिनी, बेला, जूही, खेनेली और मालती मे पैठ गयी । अशोकका का गेहूँ, यथुवा का मन्ता, पालेण्ड का आव् जापान का चावल, पजाब, उत्तर एदेज, छिद्दर और अगाल मे पहुते मे ही भर गया । कौन ही मिट्टी, कौन-सी अट्टान, कौन-सी जलवायु और कौन-सी वनस्पति इस धरा ने अपनी सीमा मे नही रखीटी । सोना ही या लोहा, जेठ हो या गैस, धरा ने अपना वसस्थल फाड मनुज की भोली मे भर दिया है ।

हिमाद्रि की विशाल गुआशी—किरधर सुभेमान, पटकोई, जयलिया, अमिया और निन्दु की उलास तरंगो के मध्य विस्तीर्ण "स्थान" हिमाद्रि के अथम अक्षर 'ही' तथा निन्दु के अन्तिम 'अक्षरन्धु' को मिलकर "हिन्दु" शब्द से सम्बोधित हो "हिन्दु न्याय" कहलाया; जिसमे भौगोलिक इकाई देण का पूर्ण प्राक्क्ष हुआ । काश्मीर जिसका किरोट है, उत्तर प्रदेश जिसका धरधरन, पजाब, निन्दु उर्वरिथम जिसकी भूजावे है और त्रिभय जिसकी कटि, पश्चिमी तथा पूर्वी घाट जिसकी जवाए हैं और कन्धाकुमारो जिसके चरण, नर्मदा जिसकी मेखना है और गंगा जिसका हार, ऐसा पावन मलयानिल से सुगन्धित स्वप्न है, इस प्रतिमा का जितने विश्व को प्रकाश दिया, जिना ही और गुरु कहनाथा । तभी ही गद्गद् हो हमके वासी इसे पुकार उठे 'भारत' । 'भ' अर्थात् 'प्रकाश' 'आ' अर्थात् पूर्ण 'र' अर्थात् देना 'त' अर्थात् दूर-दूर तक । भारत के स्पष्ट अर्थ हुए तह् स्थान जो विष्व को प्रकाश विखेरता है । भारतवर्ष से तात्पर्य हुआ वह धरती जो विश्व को ज्ञान देती है तथा धर्माक्रम की इकाई में अग्रत अग्रत संस्कृति की रचना मे लीन है ।

सांस्कृतिक इकाई-भारत का विकास

इस धरती की मोद मे, अगदि काल मे मानव सुख-दुःख की अनुभूतियो भोजता चला आया है । सुख देनेवाली वस्तुओ और परिस्थितियो से उसे मयाव तथा दुःख देनेवाली वस्तुओ और परिस्थितियो से उसे घृणा हुई है । प्रकृति —मातव के इसी संवाव से नियत, संस्कार की मन्त प्रवाहित भागीरथी, समाज को अपने पूत दर्शन, स्पर्श, मज्जन और पाठ से संस्कारित करती चली आयो है । प्रकृति की मोद मे पडे मनुष्य के अगग, प्रकृति के अगुल-निर्देश पर ही चले है और वही स्वकी संस्कृति हुई है । भारत को जनबायु में अमरता का संदिन है, कर्म का पाठ-

है, आवागमन का मिश्रण है और परहित की सृष्टि भावना है। जल-रूप बलवत्ता है पर अस्तित्व नहीं। सागर का जल सागर में ही विश्राम लेता है। अकाल में उठान तो उमरती यात्रा है। दूसरा को जीवन देता हुआ सतत प्रवाहमान रहने पर ही वह 'जीवन' है। भारत को विभिन्नता ही यहाँ की संस्कृति का वैशिष्ट्य 'समन्वय' समाज में भरती है। मानव विपुलता ही यहाँ के जीवन में कला, दया, क्षमा और जान कुट-कुट कर रिरो देती है। यहाँ के प्राकृतिक वातावरण में ही मनुष्य को पशु के स्तर में उठा देखने के शमन पन आतीन किमा।

भारत में क प्यार में गये, सुख-दुःख की समान अनुभूति करते हुए अनादि काल में चले आये भारतीय नमस्कार के घटकों में जो सत्कार की जाती सजीवी है, वह विश्व की सम्पूर्ण पूँजी है। यह, भारत में जीम उसके घटो के मध्य वह पवित्र सम्बन्ध है जो संस्कारों में व्यक्त हुआ है। यहाँ तो राष्ट्र का प्राण है। भारतीय संस्कृति के भवन की नींव गंगा, गायत्री गीता और गी परवधी है। ज्ञान कर्म, शील और सात्वत जिलकी सुदृढ़ प्राचीने है। शर्म, अर्थ काम और मोक्ष की छन का जिक्र मरकम है तथा विराजती है जिसमें उस विराट की पावन प्रतिमा, जो सत्त्व है, सुन्दर है और शिव है।

भारतीय मत्त्व की खोज में लीन है। कण-कण में एकात्म स्थापित करता हुआ अद्वैत की अनुभूति करता है। परम का साक्षात्कार जड-नेतन सभी इकाइयों में उसे होता है। 'समुद्रोऽस्य कुटुम्बकम्' सर्वभवन्तु सुखिन तभी तो उसने उद्घोषण है।

मानव अन्तर प्रविधा नहीं, जीवनमार्ग इकाई है। अस्तित्व में जिसके चिन्तन है। हृदय में भावना है और आत्मा में है उस परम की खोज। दृष्टि उसकी इसी दिशा में लगी है। चरण गतिमान है और कर है कर्म में लीन। यही तो जीवन है।

मात्रस्वाम लेना ही जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है। विपक्ष बदलाओं को तोंधती हुई, जो समष्टि को आत्मीय भाव से जीवन देती हुई, जीवन कर्म के समापन पर, सागर से गले जा लगती है। तभी तो भारत है, तभी तो पावन है और तभी है पूज्य।

हमने हम भागीरथी की उपासना की है। हमने इसे पूजा है। कभी राम के स्वरूप में, तो कभी कृष्ण की कामा में, कभी गौतम में, तो कभी शशी में। इससे विराट का दर्शन है, समष्टि का समावेश है, संश्लेषण और समन्वय का मूल है, समष्टि का तंत्र है।

रैगता सीखे हैं। बेचारे राज्य को ही 'राष्ट्र' समझे हैं। राष्ट्र भी उनके लिए अपना शब्द नेशन' है। 'नेशन' प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा शब्द और अस्तित्व है जो पौर के विरुद्ध उभरा है, खलीफा के विरुद्ध उठा है। 'नेशन' व्यक्ति और विश्वबन्धुत्व का विरोधी भाव है। व्यक्ति, व्यक्तित्व का विकसित कर्ता हुआ राष्ट्र से और राष्ट्र को विकसित करता हुआ विश्वबन्धुत्व से महुकार उत्पन्न करता है, विरोध नहीं। राष्ट्र कहीं भी अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक नहीं, बाधक है। इस 'राष्ट्र' की कल्पना और इसका साकार स्वरूप हमें नेशन से महुजों वर्ष पूर्व भारत में देखने को मिलते हैं। वेदों में राष्ट्रगीत का उल्लेख है। समानता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के भाव हैं।

भारत में स्थापित 'रामराज्य' भला कौन नहीं चाहता? कौन उस राज्य को नहीं चाहेगा जिसमें—

दैहिक दैहिक भौतिक तापा,

राम राज्य कहूँ नहिँ व्यापा।

धर्मोधारित राज्य आदर्श राज्य रहा है। धर्म का झण्डा राजा पर भी चला है। राज्य व्यक्ति धर्म, समाज धर्म के साथ ही राष्ट्र धर्म से बँधा है। प्रजा उसके लिए सर्वोपरि है। प्रजा की इच्छा का सम्मान करते हुए राम अपनी पत्नी सीता को वन भेज देने हैं। राज्य का संचालन और युद्ध का नियमन भी मात्र कानून और नैतिकता के आधान पर नहीं, धर्म के पावन सिद्धांतों पर होता है। धर्म से तान्यै 'रेव्जीजन' से नहीं। धर्म पथ, मत और सम्प्रदाय से भिन्न शाश्वत सिद्धान्त है जिसमें व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व की धारणा होती है।

धर्मोधारित राज्य और शोक्नीति का स्वरूप भारत में सदैव देखने को मिला है। अतीत की गहराइयों में भ्रांतिना, राम का काल हो, या कृष्ण का युग, अशोक का राज्य हो या हर्ष का शासन, मुल्यों और ममाज के आदर्शों के लिए सदैव समर्पित रही है।

जामु राज प्रिय प्रजा दुखारी,

सो तुष अद्वमि नरक अधिकागी।

—की भावना सत्ता पर बैठे व्यक्ति को जनहित के लिए सर्वस्व उतारने की प्रेरणा देती रही है। राम, राज्य को छोड़, राक्षसों से जूझने धन को चले जाते हैं। कृष्ण, द्वारिका छोड़ कुरुक्षेत्र आ पहुँचते हैं। अशोक युद्ध से घृणा कर शस्त्र धाग देते हैं। हर्ष, प्रयाग में वर्षों की अजित सम्पदा दान कर देते हैं। प्राणक्य, प्रम्पुर्ण जीवन राष्ट्र एकता के लिए समर्पित करते हैं। क्यों? केवल देश के लिए।

रंगना सीखे है। बेचारे राज्य को ही 'राष्ट्र' समझे है। राष्ट्र भी उनके लिए अपना शब्द 'नेशन' है। 'नेशन' प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा शब्द और अस्तित्व है जो पोर के विरुद्ध उभरा है, खलीफा के विरुद्ध उठा है। 'नेशन' व्यक्ति और विश्ववन्धुत्व का विरोधी भाव है। व्यक्ति, व्यक्तित्व को विकसित करता हुआ राष्ट्र में और राष्ट्र को विकसित करता हुआ विश्ववन्धुत्व में सहकार उत्पन्न करता है, विरोध नहीं। राष्ट्र कहीं भी अन्तराष्ट्रीयता में बाधक नहीं, साधक है। इस 'राष्ट्र' की कल्पना और इसका साकार स्वरूप हमें नेशन में सहस्रो वर्ष पूर्व भारत में देखने को मिलते हैं। वेदों में राष्ट्रगीत का उल्लेख है। ममानता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के भाव हैं।

भारत में स्थापित 'रामराज्य' भला कौन नहीं चाहता ? कौन उस राज्य को नहीं चाहेगा जिसमें—

दैहिक दैविक भौतिक त्रापा,

राम राज्य काहू नहीं व्यापा।

धर्माधारित राज्य आदर्श राज्य रहा है। धर्म का दण्ड राजा पर भी चला है। राज्य व्यक्ति धर्म, समाज धर्म के साथ ही राष्ट्र धर्म से बँधा है। प्रजा उसके लिए सर्वोपरि है। प्रजा की इच्छा का सम्मान करने हुए राम अपनी पत्नी सीता को बन भेज देने है। राज्य का संचालन और युद्ध का निश्चय भी मात्र कानून और नैतिकता के आधार पर नहीं, धर्म के पावन सिद्धान्तों पर होता है। धर्म में तात्पर्य 'रेलोजन' से नहीं। धर्म पंथ, मत और सम्प्रदाय से भिन्न शाश्वत सिद्धान्त है जिसमें व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व की धारणा होती है।

धर्माधारित राज्य और लोकनीति का स्वरूप भारत में सर्वत्र देखने को मिला है। अतीत की गहराइयों से भाँकता, राम का काल हो, या कृष्ण का युग, अशोक का राज्य हो या हर्ष का शासन, भूल्यों और नमाज के आदर्शों के लिए सर्वत्र समर्पित रही है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,

तां नृप अवधि नरक अधिकारी।

—की भावना मत्ता पर बैठे व्यक्ति को जनहित के लिए सर्वत्र उत्सर्ग करने की प्रेरणा देती रही है। राम, राज्य को छोड़, राक्षसों से जूझने धर्म को चले जाने है। कृष्ण, द्वारिका छोड़ कुरुक्षेत्र आ पहुँचते हैं। अशोक युद्ध में वृथा कर शस्त्र त्याग देने है। हर्ष, प्रयाग में वर्षों की अजित सम्पदा दान कर देने है। चाणक्य, सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र एकता के लिए समर्पित करते है। क्यों ? केवल देश के लिए।

लगी। माइबेरिया का शीत हिमाद्रि पर आ डटा और महाराष्ट्र की तपन राजस्थान की शोद मे ममा गयी, कागो की चपा चेरापूजी मे नत हुई तो ईरान की शुष्कता बराबली की चट्टानो पर सिर धुनन लग गया। भूमध्य सागर की फलवती साभ-ये भारत के बाम, बमरुद, सेज और सन्तर मे आ बसी, इटली, फ्रांस और स्वीटजरलैण्ड के पुष्पो की गद्य कमल, कुमोदिनी, वेला, जूही, चमेली और मानती मे पैठ गयी। अमेरिका का गेहूँ, क्यूबा का गन्ना, पोलेण्ड का आलू, जापान का चावल पजाब, लन्डर प्रदेश, विहार और बंगाल मे पहुँचे से ही भर गया। कौन-सी मिट्टी, कौन-सी चट्टान, कौन-सी जलवायु और कौन-सी वनस्पति इस धरा ने अपनी सीमा मे नही समेटी; मोटा हो या मोह्रा, तेल हो या गैस, धरा ने अपना बक्षस्थल फाड मनुज की झालो मे भर दिया है।

हिमाद्रि की विजाल भुजाओ—किरग्यर मुलेमान, पटकोई जयन्तिया, अनिया और मिल्घु की उत्तान तरयो के मध्य विन्तीर्ण 'स्थान' हिमाद्रि के प्रथम अक्षर 'ही' तथा मिल्घु के अन्तिम 'अक्षरन्धु' को मिलाकर 'हिन्धु' शब्द से सम्बोधित हो 'हिन्धु स्थान' कहलाया, जिसमे भौगोलिक इकाई देश का पूर्ण प्राकट्य हुआ। काश्मीर जिमकर किराट है, उत्तर प्रदेश जिसका वक्षस्थल, पजाब सिन्धु उर्वरियम, जिमकी भुजाएँ है और विन्ध्य जिमकी कटि, पश्चिमी तथा पूर्वी घाट जिसकी जंवाएँ हैं और कन्याकुमारी जिसके चरण, नर्मदा जिमकी मेखला है और गंगा जिसका हार, ऐसा पावन मलयानिल मे सुगन्धित स्वरूप है, इस प्रतिभा का जिमने विश्व को प्रकाश दिया, दिशा दी और गृह कहलाया। तभी तो भद्रशुद् हो इसके वासी इसे पुकार उठे 'भारत'। 'भ' अर्थात् 'प्रकाश' 'आ' अर्थात् पूर्ण 'र' अर्थात् देना 'त' अर्थात् दूर-दूर तक। भारत के स्पष्ट अर्थ हुए वह स्थान जो विश्व को प्रकाश बिखेरता है। भारतवर्ष से तात्पर्य हुआ वह धरती जो विश्व को ज्ञान देती है तथा बर्षाक्रम की उकाई मे आवद्ध श्रेष्ठ सस्कृति की रचना मे लीन है।

सांस्कृतिक इकाई-भारत का विकास

इस धरती की गोद मे, अनादि काल से मानव सुख-दुःख की अनुभूतियों संकोता चला आया है। सुख देनेवाली वस्तुओ और परिस्थितियों से उसे लगान तथा दुःख देनेवाली वस्तुओ और परिस्थितियों से उसे शृणा हुई है। प्रकृति—मानव के इसी मधत मे नियत, सस्कार की सतत प्रवाहित भागीरथी, समाज को अपने पूत धर्मन, स्पर्श, मज्जन और पान से मस्कारित करती चली आयी है। प्रकृति की शोद मे पडे मनुष्य के चरण, प्रकृति के अगुल-निर्देश पर हाँ चले हैं और वही उसकी सस्कृति हुई है। भारत की जनवायु मे अमरता का सदेश है, कर्म का पाठ

है आवागमन का सिद्धान्त है और परहित की सहज भावना है। जल-स्वरूप यवन्ता पर अस्तित्व नहीं। नागर को जल सागर में ही विश्राम लेता है। आकाश में उड़ान तो उमकी यात्रा है। दूसरो को जीवन देता हुआ सतत प्रवाहमान रहने पर ही वह 'जीवन' है। भारत की विभिन्नता ही यहाँ की सस्कृति का वैशिष्ट्य 'समन्वय' समाज में भरती है। साधन विपुलता ही यहाँ के जीवन में कल्याण, ध्या, ज्ञान और धन कूट-कूट कर पिसो देती है। यहाँ के प्राकृतिक वातावरण ने ही मनुष्य को पशु के स्तर से उठा देवत्व के स्तर पर आसीन किया।

भारत माँ के प्यार में पले, सुख-दुःख की समान अनुभूति करते हुए अनादि काल से चले आये भारतीय समाज के घटकों ने जो सम्कार की धाती सँजोयी है, वह विश्व की अमूल्य पूँजी है। यह, भारत माँ और उसके बेटों के मध्य वह पवित्र पम्बन्ध है जो सकारों में व्यक्त हुआ है। यही तो राष्ट्र का प्राण है। भारतीय सस्कृति के प्रबल की नींव गंगा, गायत्री गीता और गौ पर रखी है। ज्ञान, कर्म, शील और मानस्य जिनकी मुद्रा प्राचीन है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की छत का जसे संरक्षण है तथा विराजती है जिसमें उस विराट की परबत प्रतिमा, जो सत्य सुन्दर है और जिव है।

भारतीय सत्य की खोज में लीन है। कण-कण में एकात्म स्थापित करता था अद्वैत की अनुभूति करता है। परम का साक्षात्कार जड-चेतन सभी इकाइयों में उभे होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सर्वभयन्तु मुखिन तभी तो उसके उद्घोष हैं।

मानव प्रस्तर प्रतिभा नहीं, जीवनमान इकाई है। सस्तिष्क में जिमके चन्तन है। हृदय में भावना है और आत्मा में है उस परम की खोज। दृष्टि उसकी सी दिशा में रागी है। चरण गतिमान हैं और कर हैं कर्म में लीन। यही तो जीवन है।

मात्रश्वास लेता ही जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है। विपन टटारो को लोडती हुई, जो समष्टि को आत्मीय भाव से जीवन देती हुई, जीवन के समापन पर, सागर से गले जा खगती है। तभी तो भावद है, तभी तो वन है और तभी है पूज्य।

हमने इस भागीरथी की उपासना की है। हमने इसे पूजा है। कभी राम के वरूप में, तो कभी कृष्ण की काया में, कभी गीतम में, तो कभी गांधी में। इसने राष्ट्र का दर्शन है, समष्टि का समावेश है, संश्लेषण और समन्वय का संघ है, गठन का तंत्र है।

५ राष्ट्रिय समाज और जातीयता

यही तो है चेतना का सत्य ! समाज उसी के विकास का फल है । स्वभाव के अनुकूल चेतना सृजित करती है और स्वभाव के प्रतिकूल विध्वंस । वहम् से संघातित चेतना, विनाशवाहिकी है और करुणा से प्लावित वह मृष्टि-दायिनी ।

चेतनावाहक 'समाज' को प्रकृति अपनी धरती की गोद में बतती और ब्रिगडती है : भारत की धरती कर्म की धरती है, धर्म की धरती है । निर्माण यहाँ का स्वभाव । भारतीय चेतना, द्वारा अबाध गति से पाषाणों को तोड़ती, यादियों को लौघती, तूफानों से लडती चली जा रही है । आस्था इसकी डगर है और विश्वास इसका पडाव । न मदकाव है, न विभ्रम ।

इसी विश्वास को लिये, विश्व की अपनी आधोयता की परिधि में धँसती रही है, भारतीय संस्कृति ! धरती की छत 'पामीर' को लौघता हुआ, सागर को जीरता हुआ, महात्मा बुद्ध का संदेश चीम और जापान जा पहुँचा । वेदान्त ब्रह्मन जर्मनी की धरती को भा गया । 'मधु' इण्डोनेशिया में व्याप के देवता हुए, जावा सुभावा से लेकर मैक्सिको तक राम और कृष्ण विराज गये । 'राम-सिया' का उत्सव रामलीला का ही एक रूप है, जो इन्डोनेशिया में, मैक्सिको में उत्साह के साथ सम्पन्न होता है ।

भारत का चिन्तन विश्व के लिए आदर्श बना । गीता पूर्व से पश्चिम सभी देशों में दिशा-बोध देने लगा । रामायण और मानस में वर्णित लोक-राज्य लोकतंत्र का आधान हुआ । गांधी का स्वप्न इसीलिए मात्र लोकतंत्र नहीं 'रामराज्य' था । उनका लक्ष्य चुनाव तंत्र और कुर्सी तंत्र नहीं, लोकेश्वर द्वारा नियंत्रण और लोकेश्वर-सम्मान था । पश्चिमी जगत् का 'राजनीतिक प्राणी' और 'आर्थिक प्राणी' का नगर योधा और मुल्महीन प्रमाणित हुआ । पूर्ण मानव का विकास हमारा आदर्श रहा । भस्तिष्क जिसका प्रखर हो, हृदय जिसका विशाल हो, आत्मा सबल हो, काया सशक्त हो और भारतीय गुणों को अपने में समाहित कर भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करने और समाज का योग्य धटक बनने में सक्षम हो, वही मानव का सच्चा स्वरूप रूप है । राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ अभावों से डूरी रख, समाज के लिए समर्पित भी हो, समाज की व्यक्ति अपेक्षा रही ।

राजनीतिक इकाई-भारत की व्यवस्था

समय का चिन्तन करने वाली इस सांस्कृतिक धारा का व्यवस्थित समाज का सम्बन्ध चाहिए और व्यवस्था के लिए राजनीतिक इकाई 'राज्य' का विकास भारत में उस काल में ही हो चुका था. जबकि पश्चिमी देश तब इकना और भोजन बनाना भी न सीख पाये थे । अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की बात तो यूरोपिय, इंग्लैण्ड और अमेरिका भी अभी दमकें और सोलहवीं शताब्दी में राजनीति की डगर पर

संगना सीखे हैं। बेचारे राज्य को ही 'राष्ट्र' समझे हैं। राष्ट्र भी उनके लिए अपना शब्द 'नेशन' है। 'नेशन' प्रतिश्रियास्वरूप जन्मा शब्द और अस्तित्व है जो पीप के विशद उभरा है, खलौका के विशद उठा है। 'नेशन' व्यक्ति और विश्ववन्धुत्व का विरोधी भाव है। व्यक्ति, व्यक्तित्व को विकसित करता हुआ राष्ट्र में और राष्ट्र को विकसित करता हुआ विश्ववन्धुत्व में सहकार उत्पन्न करता है, विरोध नहीं। राष्ट्र कहीं भी अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक नहीं, शायक है। इस 'राष्ट्र' की कल्पना और उसका साकार स्वरूप हमें नेशन से सहजो बड़े पूर्व भागन में देखते को मिलते हैं। वेदों में राष्ट्रगीत का उल्लेख है। समाजता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के भाव हैं।

भारत में स्थापित 'साम्राज्य' भला कौन नहीं चाहता? कौन उस राज्य को नहीं चाहेगा जिसमें—

दैनिक दैविक शौनिक तापा,

राज्य राज्य काहू नहि व्यापा।

सर्वाधिकारित राज्य आदर्श राज्य रहा है। धर्म का दण्ड राजा पर भी चला है। राज्य व्यक्ति धर्म, मन्त्र धर्म के माध्य ही राष्ट्र धर्म में बँधा है। पञ्चा उसके लिए सर्वोपरि है। प्रजा की इच्छा का सम्मान करते हुए राम अपनी पत्नी सीता को बन भेज देने हैं। राज्य का मन्त्रासन और युद्ध का नियमन भी मात्र कानून और नैतिकता के आधार पर नहीं, धर्म के पावन सिद्धान्तों पर होता है। धर्म से तात्पर्य 'रेनीजन' से नहीं। धर्म पद्म, मत धीरे सम्प्रदाय में भिन्न प्राणवत् सिद्धान्त है जिसमें व्यक्ति मन्त्राज, राष्ट्र और विश्व की धारणा हाती है।

धर्मधारित राज्य और आकस्मिक का स्वरूप भारत में सदैव देखने को मिला है। अवीत की गहराइयों में भौकता, राग का जाल हो, या क्रुष्ण का युग, अशोक का राज्य हो या हर्ष का शासन, मुन्धों और सनातन के आदर्शों के लिए सदैव समर्पित रही है।

जामु रात्र विष प्रजा हुकारी,

सो भुप उदमि तरक कृषिकारी।

—कौ भावना मना पर बैठे व्यक्ति को अनहित के लिए सर्वत्र उन्मत्त करने की श्रेयता देती रही है। राम, राष्ट्र को छोड़, राज्यों में जूझने धन को चले जाते हैं। क्रुष्ण, द्वारिका छोड़ कुचमेन था पहुँचते हैं। अशोक युद्ध में घृणा कर शय्य त्याग देने हैं। हर्ष, प्रयाग में वर्षों की अजित सत्यदा धाम कर देने हैं। चाणक्य, सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र एकता के लिए समर्पित करते हैं। क्यों? केवल देश के लिए।

सं
स
म
र
।

केवल समाज के लिए। केवल मानव-दुलियों के लिए। राधा और शिवा का विदेशियों से संघर्ष क्या मर्यादा-प्राप्ति के लिए संघर्ष रहा है? नहीं। देग की रक्षा के लिए समाज-सम्मान की रक्षा के लिए, निराशा में डूबते हिन्दू-समाज का जीवन की मरकत रज्जु देख जीने की कला सिखाने के लिए, जनका संघर्ष था।

राज्य कभी साक्ष्य नहीं, साधन है। राज्य जीवन सर्वस्व नहीं, समाज जीवन में पात्र एक मरथा है जिसकी उपक्रमवा की बागडोर मर्दव शिष्ट और मगर्दजनों के हाथ में रही है। चाहे विश्वापिन हू या कृष्ण, परमार्थ गुप्त समदास ही था चाणक्य, सभी समाज की आकांक्षा और हित के अनुकूल राज्य का मार्ग दर्शन करने रहते हैं यही राजा है, लोक-इच्छा का शासन पर नियंत्रण, नहीं राजा है लोक-इच्छा का राजा द्वारा सम्मान।

भारतीय राजनीति मात्र समाज की स्वतन्त्रता उद्वेग ही निश्चिन्त नहीं, समाज को परम वैभव की उपलब्धि कराने के लिए कुत मकलप है। व्यक्ति का पूर्ण विकास जनका साधित्व है, अभ्यासों से मुक्ति जनका नक्षत्र है, धर्म का पावन जनका ध्येय है और वह भी अंकुशशिष्टो गृहकर नहीं, अतितु लोक समर्पित मुक्तजनों का बहुधा और निर्देश मानने हुए।

आन्त की भौतिकी इकाई, संस्कृति की पावन धारा में एकता और एका-त्मता के सूत्र में बँधती हुई राष्ट्र के रूप में विकास पाती है और राजनीति की इकाई 'राज्य' जनका संरक्षण करती है। भारत में, भारत कभी भूमि का टुकड़ा नहीं बना, भ्रातृभूमि बन पुजित हुआ है। भोग की भरती नहीं बना, कर्म का उपास्य श्रेष्ठ बन निर्माण की अभिव्यक्ति देता रहा है। इसीलिए विश्व में पिस्त और रोस जैसे राज्य तो काल के अन्धकार में खिलीन हो गये परन्तु भारत महत्तो तप विदेशों आक्रमण जैवता हुआ भी प्रपने स्वरूप में सिद्धमान है। प्लेटो, अरस्तू, हसो, हायथ, लाक, अगस्टाइन, मैकाविले वरुं कहीं भी व्यास, कृष्ण, वाम्नीकि, मनु, वाराहध, वासवन्ध, चाणक्य शिवा, जराविन्द, मानवेन्द्र गांधी, वीमदयान के निकट भी चिन्तन में नहीं उहर्ते। वृं भी कैसे? परिचिन सोचता है। मात्र भौतिक स्वरूप—कन रोटी का, हलैण्ड व्यापार कर, अमेरिका राजनीति का, फ्रास वैभव का। भारत सोचता है मानव और समाज का पूर्ण विकास। वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और वह भी प्रत्येक अंग में— मन, मस्तिष्क, हृदय, जात्मा, शरीर। इसीलिए व्यक्ति को परिवार के लिए परिवार को राष्ट्र के लिए और राष्ट्र को विराट के लिए समर्पित करने का भाव यहाँ जागता रहा है।

[... ..] गणतन्त्रियों हिमालय का अँधेरा, पाशाव को भापती सागर को धहराई, तप तपे सा तपता राजस्थान, हिम से गलता कैलाश, बँह-बँह जख के लिये

तरमहा अराधनी और मृतत सेवधारा से नहता बंगाल, मीथर्व का घर कश्मीर और शर्म की बाया मंबाद, ज्ञान का भविष्य बंध और धर्म की धरती अवध-वया नहीं है इस भारत में ? फिर तो हम शिष्टक हैं—

(भारत विघ्न लोगों से क्या एक धनी देश है) किन्तु भारत के स्वयंभू अर्थात् पर विपन्नता का स्वरूप (अब) शोभा नहीं देता']

सम्पन्नता की धरती—

स्वभाव के अनुकूल, प्रकृति के हाथों विफल पाती हुई, भारत मृत्ति पला स्वने-सी शरीरों में नैबदती, वैभवं हमने धरणी पर कथी न लोटकर और देन नहीं आते बाओ को बरों में खलवाते । विश्व की दृष्टि 'भोने की चिड़िया' भारत पर गड़ कर रह गयी । साम्कोडिगभा नागर के बपडे भेजता हुआ कालीकट के तले पर आ लगा । फाट्टियान और ज्जेनसाग का भारत का आकर्षण खींच लाया । मिफन्दर, नाटिरयाहु गज्जन्ती योरी स्वर्ण की लाल में बंधे भारत की अर्पती पर टूट पडे और संन-कौरी के आभार अपने देश को डो ले गये । ललजायी दृष्टि से आयेजी ने दखा मींच और पूर्वागनियों ने चाहा और व्यापार का बहामा ले भारत में आज में । सैकड़ों वर्ष यहाँ ही गम्पदा को लूटा यहाँ की सामर्थ्य को बूसा, दहाई का भविष्य अपने मुट्ठी में बांधा जार विश्व के आकाश पर छा गये । शती का देश कपास हो गया, स्वर्ण का स्वामी भिखारी बन गया । सम्पदा का घर उजड़ गया । सन् १९४७ ई० का साहु-कार देश आज दिख का कर्जदार बन गया । ४७ में अरबों रर भारत के ४०० करोड रुपये जेप से और आज भारत पर ४८८ करोड रुपये कर्ज है । दासी भिखारी बन, बन-बर भीख का कटोरा ले पहुँचता है और भीख पर पल कर लज्जा में डूबता नहीं है, हूँ से फूल उठता है । पशु से कही अधिक विरक्षण बन गया है भारतीय ।

गया, ब्रह्मपुत्र निम्बु का सैदान, सात लाख वर्ग किन्मीटर में विस्तीर्ण-विश्व का सबसे अधिक उपजाऊ मैदान ही नहीं बरन ब्रकेले ही विश्व का पेट भरने में समर्थ है । पञ्जाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और बिहार का गेहूँ, बगाल, असम और बिहार का चावल, साद्यास ले देश की भोली मर देता है । पश्चिमी पाठ और पूर्वी पाठ के मैदान लाल और नारियल के अम्बार जगा देते हैं । काना मिट्टी का प्रदेश ब्याज देश, कपास देता है, जिसके बल पर ही इंग्लैण्ड का वस्त्र उद्योग विफसित हुआ । गन्ना और चाय उत्पादन में भारत के समता कीर्द दूसरा देश नहीं ।

कभी नदल बल, अतोक बल, मलय बल, वृन्दावत आरन के सौन्दर्य और वैभव के बर थे । लकड़ी, शीपधि, फल-फूल से प्रगती को पट देते थे । श्रुतियों के आधर्म यही को थे, चिन्तन और मनन की भूमि यहीं तो थी । आज भी भारत

की धरती का २३ प्रतिशत क्षेत्रफल वन से ढँका है। साल, सागौन, शीशम चोड़, नीम, चन्दन की मूल्यवान् लकड़ी और औषधियाँ, लाख, रग, गोद, पत्ती, फल-फूल भारत को वन से प्राप्त होने वाली मूल्यवान् निधियाँ हैं।

कल-कल कर बहने वाली सतत प्रवाहिनी सरिताओं का जल, भारतीय धरातल पर छाया है। सिन्धु, सतलज, रावी, चिनाव, झेलम, व्यास, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती आदि ऐसी नदियाँ हैं, जिनकी ऊधराशि केवल सिंचाई के लिए ही नहीं, अपितु धातु के युग में ऊर्जा का प्रमुख साधन—जल-विद्युत के लिए पर्याप्त भण्डार है। विश्व के किमी भी देश में इतनी सरिताओं का जाल नहीं।

पेट्रोलियम—आधुनिक युग की शक्ति-सधर्ष का कारण बन रहा है। पेट्रोलियम के देश विश्व को अपने सकेतो पर भुजा रहे हैं। भारत भी अरब देशों का गुणगान करने में लगा है। कितना विचित्र है? जो देश मिट्टी के तेल के सागर पर तैर रहा है, वह अपनी पृथ्वी भूल कर दूसरों के थोड़े-से तेल के लिए मुँह ताक रहा है। पंजाब से लेकर असम तक, बम्बई से लेकर बंगाल तक जहाँ कभी टिबीज सागर हिलोरें ले रहा था, जीवांश के बबले से अपरिमित तेलराशि हिलोरें ले रही हैं।

अणुशक्ति की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं, उसका विकास हुआ है। सौर्य ऊर्जा को जोर ध्यान गया है। ज्वार-भाटा से ऊर्जा प्राप्त करने का प्रयत्न चला है। शक्ति का अपार विस्तार है, बस उसे लेरी बना जनहित में लगाने का प्रश्न है। कोयले का भी अभाव नहीं।

अपना वक्षस्थल फाड़ अपने बेटों के लिए, धरती सम्पदा उडेल रही है। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, अन्नक कौन-मा खनिज है जिसे भारत की धरती ने उगला नहीं। अभी तक कोलार की खान ही सोना उगलती थी, भानार की घाटी भी सोना चलेगी। धरती का कण-कण खनिज से पूर्ण है, आवश्यकता तो उसके पारखी की है।

भारत की नदियों में सतत प्रवाहित जथाह जलराशि, अपार जलविद्युत की सामर्थ्य (४११ लाख किलोवाट) अणुशक्ति की प्रचुर मात्रा में, उपलब्ध (१४ हजार टन यूरेनियम—२० लाख टन थोरियम) पेट्रोलियम की धरातल के नीचे बहती लम्बी धारा (६०० करोड़ टन) देश की शक्ति का मबल आधार बेती है। विश्व की १५ प्रतिशत जनसंख्या २० प्रतिशत पशु संख्या विश्व के २४% क्षेत्रफल-भारत में निवास करती है। अनुमानतः २१६० करोड़ टन कच्चा लोहा, ११ करोड़ टन मैंगनीज १४ करोड़ टन क्रोमाइट ११८ करोड़ टन जिप्सम, २३ करोड़ टन

वागमाइड, ४७१३७ लाख टन सोना आदि के भण्डार भारत में निहित हैं। फिर भी भारतीय निर्धन है। भारत पिछड़ा है।

विस्तीर्ण मागर की जलराशि रत्नों से भोली भरती है; मछली दे भोजन की समस्या हरती है। नमक और तेल के समस्या का समाधान करती है। ऊर्जा दे शक्ति प्रदान करती है। ३५०० मील लम्बो तट रेखा व्यापार का मार्ग प्रशस्त करती है, जिस पर बम्बई, काँधला, मद्रास, कलकत्ता जैसे पत्तन विकसित हुए हैं। अतीत में इसी मागर की छाती पर तैर कर हमारे जलपोत विदेशों में जा पहुँचे थे और व्यापार के साथ-ही-साथ भास्क्रांतिक पाताका फहरा अपना प्रभाव छोड़े थे।

उद्योग और कला-कौशल में भारत सिरमौर था, विजय स्तम्भ (कुतुब-मीनार) का निर्माण किस कौशल में हुआ कि कहीं भी जग लगने का प्रश्न ही नहीं। किं की मलमल कितनी प्रसिद्ध थी। हाथी को ढँकने के लिए मलमल अँगूठी में बन्द की जा सकती थी। यह मन्दिर, यह महल किस शिल्प का प्रमाण दे रहे हैं! भोगस्थनीज प्रशंसा कर लड़ता है—“भारतवासी शिल्प में बड़े चतुर थे, जैसा कि स्वच्छ वायु में रहने वाले और बहुत ही उत्तम जल पीने वाले लोगों में आधा की जा सकती है।”

विज्ञान, साहित्य और चिन्तन

चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में विश्व भारत का ऋणी है। भारत का पथ ही मानव प्रगति का पथ है। मानवता का मार्ग है। शान्ति का प्रदान है अर्थ साधन है, साध्य नहीं, उद्धोष कर अर्थ की दामता में मानव को मुक्ति देने का कार्य भारत ने किया है। लक्ष्मीबावन (उत्तलू) में ऊपर उठा कर लक्ष्मीपति (विष्णु) के स्तर पर मानव को रखना हमारा ही कार्य है। भोग में लित रहकर रावण की लका बसाने से बच कर समाज के लिए अर्पित, साम्राज्य का वैभव अवध में पूजित करने का हमारा ही स्वभाव है। सम्पत्ति की उपासना नहीं, चाहे वह उत्पादन की विधा में हो, पूँजीवाद या वितरण की दिशा में साम्यवाद सम्पत्ति को श्रम से चेनी बना, व्यक्ति के कल्याण के लिए समर्पित कर देना ही हमारा लक्ष्य है।

कनाये वसति लक्ष्मी कर मध्ये सरस्वती ।

करमूलेतु गोविन्दः प्रभाते कर दर्शनम् ॥

श्रम में ही लक्ष्मी का अर्जन होता है, परन्तु श्रद्ध और विवेकपूर्ण नाधनो त्रा और वह अर्पित होता है, गोविन्द-समाज को। कण-कण में परमार्थ के दर्शन कर एकात्म की अनुभूति करना और उसक लिये जीना ही हमने सीखा है।

मानव उपभोग की हकाई नहीं, श्रम का अतुल भण्डार है। भोग के लिए धरती पर नहीं पधारा, कर्म के लिए उत्तरा है। यह कर्म भूमि है और उस पर

समस्त सामर्थ्य का उत्पादन के लिये लप जाता और अन्त में समाज की मोदने ममणित हो जाता ही श्रेय है। मानव ही आराध्य है और मानव ही आराधक। दीन-दुःखियों की सेवा, उनी परम की सेवा है।

कर्म से पलायन नहीं। कर्म से भय नहीं। कर्म से कष्ट नहीं। कर्म तो हमारी बाधना है। हमारा मुक्त है। उमने भागता कहीं? मसमे डबना है। आज पण्डित ने कर्म से पलायन सीखा, अशरीनों को लादा है। श्रम से भागा, सुविधा को जन्म देता है। पण्डित है वेकानी और आलस्य। इमीलिंग तो नौकरी, श्रम बाढ़ते है, परन्तु कर्म नहीं। कार्यालयों में कुर्नी खाती है। विद्यालयों में कक्षाएँ खाली है। न्यायालयों में न्यायपीठ खाली है। वेतन के लिए हडलाने है, परन्तु कार्य के लिए योजनाएँ कहीं?

राज्य जीवन का सर्वस्व बन गया है आज। परिवार के चूल्हे से लेकर ऋषि की कुटिया तक इनका साम्राज्य है। उनी के संकेतों पर शिक्षा-नीति, सभाज-नीति, धर्मनीति संचालित होती है। हस्ताक्षर के लिए पैर का अँगूठा बढाने वाला साम्राज्य विधान सभा और लोक सभा में पहुँच विधान का निर्माण करता है और अणु भर में कनी विद्युत विभाग का तो नभी शिक्षा विभाग का कभी उद्योग विभाग का तो कभी न्याय विभाग का विशेषज्ञ बन जाता है। कम उमरे विभाग के मंत्री बनने की गव्यप्रकता है। मंत्री बना और विशेषज्ञ हुआ, कैसा आश्चर्य है?

भारत सत्तानी की जीवन का सर्वस्व नहीं, एक अंग मानता है। राजनीति समाज जीवन की रानी नहीं, बेरी है। राज्य सत्ता शिद्धत् जनों के सकेतो पर चलती है। वसिष्ठ विश्वामित्र, चाणक्य, समर्थ गुप्त रामदास उसकी नकेल अपने हाथों में रखने है। जतना की इच्छा, उमका नियंत्रण करती है। महाराजा सगर अपने पुत्र अम्भभ्रम का राज्य में निकाल देते है। क्यों? इसीलिए न कि उमने प्रजा को कष्ट दिया था।

पौराणामहिनै युक्तः पित्रा निर्वाणित पुरात् । (वाल्मीकि)

मुवातम्हा राज्य का दायित्व है और विनत हो उमने उससे लगे रहता है। राजा अश्वपति महर्षियों का स्वागत करते हुए कहते है

न मे स्तेनो जनपदे, न कवर्षो न मलयः ।

नानाहिताभिर्नाविद्वान् स्वैरी स्वरिणी कुत ॥

सत्ता शाषण के लिए नहीं, पोषण के लिए है। प्रजा का राजा पिता के समान धाचन करता है। वह चिन्तित होता है कि—

आमु राज प्रिय प्रजा बुखारी
सो नृप अबसि नरक अधिकारी ।

समाज आवश्यकताओं का आविष्कार नहीं। मनुष्यों ने उसे नहीं बनाया। मैकाइवर और पंज की धारणा कि समाज सम्बन्धों का जाल है। प्रकृति की कमीड़ी पर मन्व्य नहीं। पश्चिम जगत् समाज को भौतिक धरातल पर लडा कर उसका विश्लेषण करता है, जो अधुंश ही नहीं, मूलत गलत है।

समाज स्वयंभू, सावयव जीवनमान मन्ता है। व्यक्ति जिसके स्वभावेन घटक हैं। व्यक्ति के मनान ही समाज भी प्राणवान् है। उसका भी अपना स्वभाव है। उस का प्राण रोटी है, ईर्ष्या का प्राण व्यापार, क्राम का प्राण राजनीति तो भारत का प्राण धर्म है। प्राण को हटाइये समाज टूट जायेगा व्यक्ति नभग्न के विकास में बाधक नहीं, नाशक है। व्यक्ति का विकास समाज का विकास है। समाज का विकास राष्ट्र का विकास है और राष्ट्र का विकास विश्व-विकास की मीठी है। सभी इन्साइनों एक-दूसरे की पूरक है, अद्वरोधक नहीं। भारतीय चिन्तन इसीलिए सधर्ष का नहीं, महकाम का चिन्तन है। मृत का नहीं, दान का चिन्तन है।

समाज का विशिष्ट पुर्य, अपने अम-ध्यान के द्वारा व्यक्त होता हुआ, भक्ति, श्रद्धा और प्रेम के त्रिकोण में प्रकट हुआ है। करोड़ों जिनके घर हैं पर कृति एक है। करोड़ों जिनके चरण हैं पर गति एक है, करोड़ों जिनके नेत्र हैं पर दृष्टि एक है।

भगवान् के प्रति मनुष्य भक्ति से नत होता है और अपने को उसके चरणों में समर्पित करता है। यह उसकी आस्था को डहर है, विश्वास का स्थल है, जीवन का सम्बन्ध है, मभी में उसी के दर्शन कर वह मुनमुना उठता है—

मीथ राम मय सब जस जानी ।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥

माता-पिता मुन्जनों को धरदा में नमन करता है। उनमें ज्ञान सीखता है, आत्मीयता की ओर में बंधता है, आशीर्वाद लेता है, उनके प्यार का संस्पर्श पा सुख से पुलकित ही उठता है। श्रद्धा का उदाहरण एकलव्य से अर्जुन और कर्हूँ मिलेगा। पितृ और मातृ भक्ति श्रवण कुमार के जीधन दो छोड और कर्हूँ खोजोगे।

अपने छोटे पर प्यार उडेलना और उन्हें अपनाता भारतीय समाज का स्वभाव है। मातव ही क्यों, पशु-पक्षियों पर भी प्यार की शपकियाँ, भारतीय देता रहा है। जाश्रम में किस प्यार ने शकुन्तला मृग शावक की पालनी है।

भारतीय चिन्तन परिवार और समाज का विघटन नहीं कराता, टूटे हुए घटकों को जोडता है। वैयक्तिक सुख का ओर नहीं दौडता, परिवार और समाज के हित के लिए सुखों का समर्पण कराता है। राजा राज्य त्यागते हैं, शकराचार्य

घर त्यागते हैं, विवेकानन्द समाजहित समर्पित होना है, केशवराभ सर्वस्व त्याग तिल-तिल समाज के लिए मानते हैं।

पश्चिम धर्म को भी घना बना देता है। सम्प्रदाय ही उसका धर्म है। मत और पंथ ही उनके धर्म की इमारत है। कैसी है विडम्बना? क्या ईसा और मोहम्मद साहब से पहले धर्म न था? रिजीजन धर्म नहीं, रिजोजन सम्प्रदाय हैं, पथ है, मत है। धर्म तो शाश्वत सिद्धान्त है जिससे व्यक्ति और समाज की धारणा होती है। इसीलिए व्यक्ति सम्प्रदाय निरपेक्ष तो हो सकता है, परन्तु धर्म निरपेक्ष नहीं। धर्म से हटकर भला अस्तित्व कहाँ? धर्म पर आधारित रह कर ही वह अर्थ का अर्थन करता है और समाज में अपनी आकांक्षाएँ पूर्ण करता हुआ परमात्मा की प्राप्ति करता है। धर्म ही तो है जो मनुष्य को पशु से अलग खड़ा करता है।

आहारनिद्राभयर्मथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नरगणाम् ।

धर्मो हि तेवामधिको विद्येपो, धर्मोऽह्निनः पशुभिः सभातः ॥

(पञ्चतन्त्र)

मानव चिलियन्म कहते हैं कि प्लेटो और पाइथागोरस भारतवासियों के कृणी है। लेबत्रिज साहब को मानना पडा है कि दर्शनशास्त्र के लिए भारतीयों का ही मूँह जोड़ना पडता है। कपिल, गौतम, पतञ्जलि जैसे महान् अद्वितीय दार्शनिक उत्पन्न करने से पहले ही भारत सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। मैक्समूलर इसका वैज्ञानिक प्रमाण देते हुए कहते हैं—

“जो राज्य उन्नति के उच्चतम शिखर पर स्थित होता है, जिस राज्य में भीतरी और बाहरी मनुष्यों के आक्रमण की कुछ भी आशंका नहीं होती, जिस राष्ट्र के लोग धन-सम्पत्ति की वृद्धि के साथ-ही-साथ अनेक विद्या मन्दिर और विश्व-विद्यालय स्थापित करके, बिना किसी विघ्न-बाधा के विद्या में मन लगा सकते हैं, उन सभ्य समुन्नत राष्ट्र में दर्शनशास्त्र का आविर्भाव होता है।”

साहित्य समाज को दिशा देना है, मस्कार देना है, उसका निर्माण करता है। भारतीय साहित्य नमन्वय का वैशिष्ट्य है विश्व पर छा गया है। गीता गले का हार है। शकुन्तलम् रम का सागर है। गेटे जिसे पाकर नाच उठा और बोला—

“शकुन्तला वह चीज है जो पृथ्वी का स्वर्ग के साथ भेल कराती है।”

संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं की जननी है। डॉक्टर बेलटाइन स्वीकार करते हैं कि संस्कृत से ही विश्व की समस्त भाषाएँ निकली हैं। डब्लू० सी० टेलर की दृष्टि में संस्कृत की समस्त सार की कोई भाषा नहीं कर सकती। यूरोप की

समस्त भाषाएँ इसी से निकली हैं : संस्कृत का व्याकरण विश्व के लिए प्रकाश-
स्तम्भ है। पाणिनि ने विश्व को इस क्षेत्र में दिशा दी है। मैक्समूलर लिखते हैं कि
केवल हिन्दुओं और यूनानियों ने व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति की किन्तु यूनानियों ने
व्याकरण में जो सफलता प्राप्त की, वह पाणिनि की देन है। संस्कृत भाषा के ही
शब्द विदेशों की भाषाओं में छापे हैं। 'मदर' 'मातृ' के अतिरिक्त और क्या है ?

ज्योतिष और गणित का घर है हमारा देश। बेबर और कोलबुक सिद्ध
करते हैं कि चीन और अरब भारत में ही ज्योतिष विद्या सीखे हैं। दशमलव भारत
की ही देन है। इमोलिए इमे अरब में इल्मे हिन्दसा कहते हैं। डॉ० थोवी
कहते हैं कि संसार रेखागणित के लिए भारत का ही श्रेणी है। रामानुजम् को
गणित के क्षेत्र में कौन भूल सकता है। वेदों में वर्णित १६ सूत्र गणित के कठिन-
से कठिन प्रश्न को हल करते हैं।

रोगी का नाम सुन, रोग का निदान बताना हम जानते हैं। रोगी की काया
देख औपधि देने हैं और आज भी नारी पर हाथ रखते ही रोग का निदान खोज
लेते हैं। चरक को विश्व स्मरण करता है। वैद्य रसादिक से ही चिकित्सकों को
देवी, फल-मूल में की हुई चिकित्सा को मानुषी और अस्त्र से चीड़-फाड़ की चिकित्सा
को राक्षसी चिकित्सा कहते हैं —

“रसादिभिर्या क्रियते चिकित्सा दैवीति वैद्ये परिकीर्तिता सा ।

सा मानुषी याऽथकृता फलाद्यै सा राक्षसी शस्त्रकृता भवेद्या ॥

डॉ० हण्टर की दृष्टि में यूरोप में वैद्यक का ज्ञान चरक से पहुँचा है।

शिक्षा कभी यहाँ बेची नहीं गयी। भक्ति ही सम्बन्ध की कड़ी है और श्रद्धा
ही ज्ञान का कारण—“श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्” शिक्षार्थी का सम्मान राजा से भी
अधिक है। मार्ग पर जाते हुए राजा और शिक्षार्थी यदि सम्मुख आ जायें तो श्रेष्ठ
वशिष्ठ राजा को शिक्षार्थी के लिए मार्ग छोड़ देने के लिये कहते हैं। कहीं भी
खोजने पर द्विज मुखें नहीं मिल सकते थे क्योंकि ग्राम से अण्ड द्विज को राजा
द्वारा दण्ड का विधान था —

“यदि गाँव में द्विज एक भी विद्या न विधिपूर्वक पढ़े।

तो दण्ड दे उसको नृपति, फिर क्यों न धो शिक्षा पढ़े ॥

—भारत भारती

राठी, कपडा और मकान के लिए शिक्षा नहीं बनो। शिक्षा नौकरी के लिए
योजित नहीं हुई। अर्थ अर्जन और नौकरी के लिए शिक्षा नहीं हो सकती। जहाँ
लक्ष्य अर्थ हो फिर भला 'मनुष्य' दृष्टि में कैसे आ सकता है। अर्थ अर्जन के लिए

स्वयं निरग्रह ही अनुकूलता की निताञ्जलि दी जायगी। हमोगिए ता काज अष्टा-
वार और अषाढ आकाश की षोडश से लेकर धरातल की कुण्डितगत गृहगई तक
पीडामोद है। इको देवता ने वैदिकीधारण मुक्त ने कहलवा दिया :—

‘गिधे तुम्हारा नाम हो तुम भीकरी के हित बनो’

राज-मानव निर्माण हमारा लक्ष्य नहीं समाज-संस्कार हमारा ध्येय नहीं।
किन्तु जलान-मूल्यों और समाज आदर्शों को हन हनो खोड़ रहे हैं? क्या राम-मा-
राम चाहते हैं? विश्वामित्त-मा स्मृति चाहते हैं। समर्थ रामदास-मा गुरु चाहते हैं,
तुलसी-मा कवि चाहते हैं, भामाशाह-सा संगी चाहते हैं।

भारत मानव-मूल्यों की केवल पुस्तकी में बंद नहीं करता, उनको जीता
है। चिन्तन को साकार रूप देता है और उसी सगुण की उदासता भारतीय समाज
करता आया है। सत्य हरिश्चन्द्र के रूप में प्रकृत है, राम ‘वैश्विक’ के वास्तव में
वर्तमान है और ‘राम’ के रूप में पर-धर उपास्य है और वर्ष ‘कृष्ण’ के चरित्र में
उजागर है। कथन ‘बुद्ध’ के स्वरो में प्रुटी है, समता ‘विवेकानन्द’ ने दी है, जाहिसा
‘भाषी’ लेकर बड़े हैं, समर्पण समाज-हित, कण-कण का केशक और ‘वीरदयाल’
ने जाना है, समता ‘जयप्रकाश’, लोटिया और ‘मानवेंद्र’ का पथ है। इसी मानव-
मूल्य की उगार पर भारतीय जीवन-यात्रा करना आया है।

अबुल फज्जक १३८३ में लिखते हैं कि—

“माल हर किरफ का, बगैर मालिक के, काफ़ारी में खुसा पडा रहता है
गदर उम कोई हाथ नहीं लगता।”

एरियन यूनानी कहता है—

‘मैंने किसी हिन्दू को मूठ बोलने नहीं सुना।’

कर्मल स्लोमिन रवीकारता है—

कि गाँव के रहने वाले बूढ़ता से सत्य का साथ देते हैं और फाहियान
कहता है कि “भारत में धरो में ताने नहीं बसाये जाते।”

यह मानव-मूल्यों की डगर है जिस पर चल कर भारतीय सभ्यता का
रथ इस ऊँचाई तक पहुँचा और उनसे हटने ही, अर्थ की रपटीली राह पर पहुँच
अष्टावार के लक्ष्य में फँस गया। वर्तमान में मानव विकृति का बन्दी है, अष्टा-
वार ही उसका अगवाह है और ध्वंस ही उसका पथ है।

[• हिमाद्रि से लेकर सिन्धु तक फैली भारत की धरती तुम्हारे पुस्तकालय को
धूमिलो बेनी है, राजस्थान की लपटी हुई माटी अपनी ‘प्यास’ बुझाने के लिए
तुम्हारी ओर दफ़टकी लगाने निहार रही है। मध्य प्रदेश, उत्तराखण्ड और महाराष्ट्र

का बलस्वरूप हनुमन्तर की बात जोड़ रहा है—गिरि शृङ्गों की उंचाइयों कर्मण्यता की आत्मरक्षण के रहने हैं—उठो और देखो। क्योंकि "भारत के स्वर्णम अतीत धर विपन्नता का स्वरूप (अब) शोभा नहीं देता।".....]

विपन्नता का स्वरूप

स्वतन्त्रता के दिनों से पूर्व जनमानस में महत्व आकाशा गयी थी कि मूल और ज्ञानिनी त्रिभुजों नगर की अद्वैतिकाला में लेकर गाम की कृषिमा नक पट्टेविगी तथा अभाव और अत्याय की चक्की, में पिन रहीं भारतवत्ता को प्रकृति मिलेगी। पूज्य बापु का रामराज्य माकार होगा किन्तु हुआ खलटा ही, आकाश से मेरुकर, स्वतन्त्रता खजूर में लटक गयी। सत्ता का परिवर्तन तो हुआ परन्तु स्वतन्त्रता नहीं आयी। तंत्र विदेशी रहा 'मंत्र'विदेशी रहा और गन्तव्य भी अपना धरती छोड़ विदेश की धरती का बन गया। जब 'तंत्र' ही अपना नहीं जब सत्ता ही अपना नहीं तो मन 'तंत्र' कैसा।

धरतन्त्रता के काल के स्वतन्त्रता की भावना थी। राज्य विदेशी था, पर भावना स्वदेशी थी। प्रशासन उत्तका था, व्यवस्था हमारी थी, कार्यालय शासित था, धर्म स्वतंत्र था, नागरिक नियमों का बन्दी, था व्यक्ति स्वतंत्र था। भाषा अपनी ही भूया अपनी थी, मानव अपना थी, तीव्र और व्योहार अपने थे। आज स्वतन्त्रता की छाया में धरतन्त्रता की बेल विकसी है। मन स्वदेशी है पर मन विदेशी है। सिद्धान्त की भाषा अपनी है और भावना उनकी है। खड्ग का बस्त है पर सूट और टाई है। धर पर अंकन की संस्कृति छापी है 'मैया' सर गयी है और सम्भी पधारी है, 'पिताजी' स्वर्गवासी हुए हैं और 'पपा' आ विराजे हैं। अपना जो कुछ भी है, तुच्छ है देय है, विदेशी की जूटन भी उत्तम है, श्रेष्ठ है।

महात्मा अरविन्द ने भारत को 'माँ' के रूप में पुजा है। बकिम बाबु ने 'वंदेमातरम्' की दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी, कर्तु भारत का शक्ति के रूप में आराधना है। गांधी ने भारत की आत्मा से सीधा ताता जोड़ उसे खण्डित होने से बचाने के लिए सकल्प किया—'हमारे जब पर ही माँ का विधाजन होगा।' 'राजी के तट पर जनवरी, २९ में पूर्ण स्वराज्य का उद्घोष हुआ और आज भी हम "भारत माता की जय" बोल स्मरण करा देते हैं कि देश हमारी माँ है। मिट्टी का दुष्का नहीं। परन्तु पूज्य बापु की कल्पना टूट गयी। देश, हमारी माँ न रहा, हम उसके बेटे बन रहे। देश राज्य बन गया और हम नागरिक बन गये। जिस माँ के लिए सखी ने फार्सी के फन्दे चुने, जिस देश के लिए वीरो ने सोनी पर, गोनी खायी, जिस भारत माँ की धूल को मस्तक पर चढा शहीदों ने कण-कण धरती का रक्त से पवित्र कर दिया, माताओं ने गोद भूनी को, बहनों ने सुहाय लुटाया, बही 'माँ', भारत माँ,

१६, माहिल्य समाज और भारतीयता

आज 'मा' न रही, मिट्टी का टुकड़ा बन गयी। राज्य का क्षेत्रफल बन गयी। बाहरी कल्पना बाहरे भोग की भावना।

इसोलिए 'मा' की बुझाई कठनी रही और हम भीव रहे। अस्तक-कथमोर पर कुलहाडा बबदा रहा हम भीव रहे, केश, लडाक, उदंगियम-बिखरे, लडू गृहान हूए हम भीव रहे, बगल पर-कच्छ वेरवाडी-प्रहार हुआ हम भीव रहे। हमें काठ मार गया, हमारे हाथ न टिरे, मुख न खुला। क्यों? सत्ता के मद ने भगवत की कोर को तोड़ दिया। भोग की विपदा ने श्रद्धा को तिलाजलि दे दी। शक्ति ता दूर हम अपनापन भी न निभा सके।

शान्ति के नाम पर हमने पञ्जाब दिया, सिन्धु दिया, बिजोत्रिनाग दिया, बंगाल दिया, परन्तु शान्ति की देवी हमसे गठी रही। उमें मनाते बीड़े हमारे नेता और अट्टहाम करते हुए दावब की फोली में 'कच्छ' डाल दिया 'वेरवाडी' का उपहार दिया। परन्तु उमने हमें कुकार बना सदैव के लिए शान्ति को हमसे छीन लिया। कायर हाथों से छीनने, पीली परन्तु बीनी उंगलियाँ हमारी धरती पर आ गहीं और १४ हजार बंगमाल धरती बबोज कर ले गयी। हम देवते रहे। कायरता के पृथक में देवी हमारी मत्ता आज तक उसे वापस न ले सकी। देण कटा, देण बँटा, और सीमाएँ निकुलती बली गयीं।

बँटता भी क्यों न। साधना का 'मंत्र' भी भूला दिया। 'बदेमातरम्' जैसे देश शक्ति के मात्रकों ने अपने रक्त से मिछ किया, फाँसी का फन्दा बूम जिनमें नेज की अपट्टे फूँकी कारा की काल काठरियों में दीवारों से टकरा-टकरा जिसे उन्कारत कर भत्र की शक्ति दी वही स्वर हमसे छीन लिया। जिसे बोजते हों बाँध की नहर दौड़ जाती हो, जिसे सुनते ही बनिदान के लिए मन मचल उठता हो, जिसे यात्र कर आजाद भगलसह, सुभाष, सावरकर, गांधी और नेहरू के चेहरे आँसों के सापने दौड़ जाते हो वह छंद दूर किया, वह गीत भूला दिया, वह भाव हँ हटा दिया। बाहरे संतुष्टीकरण की नीति। अपने हाथों अपनी परम्परा मिटा दो, अपना इतिहास मिटा दिया।

'जल-गण मन' हमारा राष्ट्रीय गीत है। पूष्य खीन्ध का गीत है। पर कहाँ है उसकी साधना? कहाँ है सिन्धु? जिसे नित्य राष्ट्रीय गीत में दोहराते हो। कहाँ है लोक-भावना? कहाँ है जनता का देण?

कैमी जय। किसकी जय। शब्द में माधक की साधना होती है, शब्द में साधक की आत्मा बोलती है। शब्द से प्रण होले हैं। मुषाष दे कहा 'तुम हमें खून को हम तुम्हें आजादी देते' बम भारत की जनता मचल लडी धर खील-खील, हथेकी पर गिर रख मुषाष के बरणों में आ डटी। कौन-सा जहू शर, कौन-सी शक्ति

थी। वही मुभाप की साधना ही तो थी न, जो मध्से मे बोल रही थी। हम वही शब्द बोल कर क्या जनता का बलिदान के लिए ना सकते हैं? नहीं। क्योंकि हमारी वह साधना नहीं। 'वैद्यनातरम्' मे वही शहीदो की साधना बोधती है उनकी आत्मा हुंकारती है। और जन-गण-मन अभी सूना है।

देश को हम देश का बिघान हो न दे मके। आज एक लम्बा किन्तु निर्जीव आकार खड़ा कर दिया गया है किन्तु कहाँ है उसमे भारत का उत्थित्वास? कहाँ है उसमे भारतीय परम्परा? कहाँ है भारतीय समाज का स्वभाव? कौन-से हैं उसमे हमारे मानवीय मूल्य, कौन-से है हमारे उसमे आदर्श? ब्यास, वशिष्ठ कुशम टाशवल्क्य, पारशर, भनु, चाणक्य क्या किसी भारतीय का कोई स्त्री विन्तन-अशय वाक्य उसमे नसाहित है? यदि नहीं तो क्यों? क्या हम सूक्ष्म हैं? क्या हमारे पूर्वज सूक्ष्म थे? क्या हमे गण्य-व्यवस्था का कोई ज्ञान नहीं था? और यदि नहीं था तो क्या हम अपने आवश्यकता और अपने स्वभाव के अनुकूल कोई विधान नहीं बना सकते? सभोधनो की श्रृंखला कब तक चलनी रहेगी। वृद्ध वा कोट शिशु नहीं पढ़न सकता, दुष्टा का 'एग्लू' भारत का धर नहीं बन सकता। अपने स्वरूप और अपने वातावरण के अनुकूल अपना डंग और मार्ग बनना होगा। यहाँ राम पूजिन है, उहाँ कृष्ण बन्वित हैं। इनाइत और मैक्याविले नहीं।

भारत की सम्पन्नता, अपने रौरो खड़ी हुई है, भीख के सहारे उसने कभी मुकुट नहीं बाँधा है। धरती ने सोना उगता है, धम ने सम्पन्नता की फल उगाई है। बूट की लका नहीं, सदैव शील की अयोष्का हमने बसाई है। लुटते-लुटते भी धनीलिए हमारा खजाना खाली नहीं हुआ और स्वतन्त्रता के आत्मन पर हम भाहूकार सिद्ध हुए, इंग्लैण्ड कर्जदार। पर आज प्रगति के चरण बढ़ते। हम कर्जदार हैं और किम-किम देश के नहीं। ४५५४ करोड़ रुपया हम पर कर्ज है और फिर भी हम प्रगति पर है। बाहरी प्रगति, जुआरी और धारावी कर्ज ले, जब अमीगो का लोग रक्षता है तो सम्झो उसका धर नीलाग होने वाला है। सत्ता नद मे चूर, कुर्सी क जुए मे धाव लगते वाले सर से पैर नक देश को कर्ज से नाद बुके है और गाँव की दूरी भीषणी में अभी तक सम्पन्नता तो दूर रोटी को गंध तक नहीं पहुँची है। देश मे भुखो की संख्या बढ़ी है, अधपेटों की गिनती नहीं की जा सकती। हाँ, नये सभरे बमकते चेहरे वाले सेठो और अमीदारो की गिनती अवश्य हों सकती है।

बेकारों की उलटन खबो है। कार्यालयों की कुन्डो खटक रही है पर नौकरी कहाँ है? नौकरी नहीं तो रोटी कहाँ है? रोटी नहीं तो घर कैसे? धर नहीं तो जेहूँ मे क्यों न जायें? जेहूँ में जायें तो खून चुग्ने वाले और बाडम्बर मे छिपने वाले समाज के गुनह-भारी से क्यों न लिपटे और लिपटे तो अपराधी क्यों न कहायें? यह क्रम कब तक चलेगा। वह दिशा सही दिशा नहीं है। यह दिशा हमारी दिशा नहीं है।

नीकरी नहीं कर्म चाहिये, कार्यालय ही नहीं खेत भी चाहिये। कुर्सी नहीं घरती और मागर को छाती चाहिये। उठो ! देवो ! हिमाद्रि से लेकर सिन्धु तक फैली भारत की घरती तुम्हारे पुरुषार्थ को चुनौती देती है। राजस्थान की लपती हुई माटी अपनी प्यास बुझाने के लिए तुम्हारी ओर टकटकी आगये निहार रही है। मन्व प्रदश उत्कल महाराष्ट्र का वक्षस्थल हलधर की बाट जोह रहा है। आकाश का चूमनी गिरि-मृगों की ऊँचाइयाँ कर्मण्यता को धामंत्रण दे रही है। रत्नगर्भा भारत बसुन्धरा अपने वैभव को विश्व के करोड़ों करो में समर्पित करने को धातुर है। सागर अँगडार्ई ने अपनी सम्पूर्ण सम्पदा चरणों में अर्पित करने को खडा है। लक्ष्मी अपने पुत्रों को सर्वस्व देना चाहती हैं, पर कहीं है वे कर। कहीं हैं वे चरण। कहीं है वह दृष्टि।

दृष्टिहीन समाज ही टूट चुका है, गाय उजड रहे है। प्रकृति की गोद छोड हम मनुष्य की कारा में बन्दी होने भाग रहे है। उगते हुए सूर्य को नहीं, वल्व के प्रकाश को नमन है। मुगन्धित वायु का संस्पर्श नहीं, बिजली के पंखे का सुख है। कल कल करती मरिचा का अवगाहन नहीं, लंबी प्रतीक्षा के बाद, प्राप्त लोटे भर पानी से प्रक्षालन है। स्वतंत्रता का जीवन नहीं, दासता का वैभव है। मनुष्य मर चुका मशीन का जीवन है। प्रातः से मायं तक पेंसा-पेंसा बस पैसे की धुन है। परिवार टूट रहे हैं, भाई भाई को खा रहा है। माँ बेटे को छोड रही है और बेटा मा को बसीट कर घर से निकाल रहा है। श्रद्धा आकाश में उड गयी है, भक्ति ने बिदाई ले ली है और प्यार घरती में धँस गया है। बस सम्बन्ध रह गये हैं अर्थ के। पति-पत्नी का सम्बन्ध भी संस्कार का सम्बन्ध नहीं रहा। पश्चिम की हवा ने उसे आधुनिकता का आवरण पहना दिया है। समाज से आत्मीयता और अपनापन बिदा हुआ। स्वार्थ की आँधी में सधर्ष-हो-सधर्ष मुँह बाये खडा है। भ्रष्टाचार छाया है। अपराध बढा है। अशान्ति फैली है और समाज में जीवन-मृत्यु की घडिर्थाँ गिन रहा है। व्यवस्था चरमरा कर चूर हो गयी है। व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल गया। कैसी नैतिकता और कैसे मूल्य ?

धर्म की बात छुटी, न्याय भी आँल से ओझल हुआ, कानून भी कानो से जाता रहा, कुर्सी पर रह गया बस अर्थ का शासन और वह भी तो अब झूठा पड गया। कभी धर्म का भय था और व्यक्ति भ्रष्ट का आवरण नहीं करता था, धर्म की चिन्ता न भी को तो न्याय की सोचता था और भ्रष्ट आवरण से बचता था, वह भी जाता रहा तो कानून का भय समझता था और गलत आवरण नहीं करता था, कानून को भी बिदाई दी तो पैसे के बल पर ही गलत काम सम्भवत. था, पर

अब तो पूरी स्वतन्त्रता है। कैसा धर्म ? कैसा ध्याय ? कैसा कानून ? नीचे से ऊपर तक झूठाचार व्याप्त है। सर्वव्यापकता में झूठाचार भगवान् से आगे है। हो सकता है लोग भगवान् को विद्यमान न कहे परन्तु एक स्वर से सभी झूठाचार को सर्वत्र विद्यमान कहते हैं।

अपने मूल्य हमने छोड़े—“परहित संरक्ष धर्म नहिं माई” छोड़ हमने स्वीकार किया 'जियो और जीने दो।' क्या यह भोग का बेटवार है नहीं ? क्या कर्तव्य की डगर में हटकर हम अधिकार के पथ पर नहीं बढ़े ? कैसा समर्पण ? कैसा त्याग ? कहाँ शील ? कहाँ कठिना ? सहकार के नाम पर क्या अर्थ से हम नहीं बंधे। भारतीय जीवन-पद्धति छोड़, विदेशीय जीवन हम जी रहे हैं और कितना विचित्र है कि हम कहते हैं कि भारत में ही नहीं, विदेशों में भी अपराध बढ़े हैं, महंगाई बढ़ी है, झूठाचार बढ़ा है, तो फिर हमारे बुद्धि में क्या नहीं आता कि जो रास्ता विदेशी चल रहे हैं और जिसे हम अपना रहे हैं वह गलत है। यह गलत रास्ते ही के परिणाम हैं। हम उस रास्ते को छोड़ते क्यों नहीं। हम अपना रास्ता क्यों नहीं चलते। अधिकार और भोग का रास्ता छोड़ कर्तव्य और अह्यात्म का मार्ग क्यों नहीं चुनते। मनुष्यता की उपासना क्यों नहीं करत।

मनुष्यता की उपासना करें कैसे ? हमने तो अपना इतिहास ही भुला दिया। हम तो अपने आदर्श ही भूल बैठे। कितने हैं जिन्होंने रामचरितमानस पढ़ी है ? कितने हैं जिन्होंने गीता पढ़ी है ? कितने हैं जो वेदों के नाम जानते हैं ? कितनों ने अरविन्द, विवेकानन्द का नाम सुना है ? अपने पूर्व भी तो स्मरण नहीं रहे, अपनी परम्पराएँ भी तो हम भूल गये। नीति की कथाएँ जीवन के संदेश, संतों के उपदेश सभी कुछ विदेश हुए। हितोपदेश की कहानियाँ कौन सुनाता है, कौन देना है संजो का भाव।

राम और कृष्ण को भूल, जेनिन और लिफन पढ़े जा रहे हैं। राणा और शिवा को छोड़ नेपोलियन और विस्मार्क याद आते हैं। बन्दावैरागी और मुर-गोविन्दगिह के पुत्रों का बलिदान नहीं, लाल क्रान्ति याद आती है, तो भला कैसे भारतीय धरिन्न विकसेवा।

निष्कर्ष

जो सो रहा है, उसे जमाया जा सकता है। जागकर वह आगे की यात्रा कर सकता है। जो भूल गया है, उसे उसके रास्ते पर लाया जा सकता है और वह अपने रास्ते पर आगे बढ़ सकता है, किन्तु जो अपना रास्ता छोड़ दूसरों के रास्ते पर चल पड़ा है और उसे ही अपना रास्ता मान बैठा है तो फिर उसे कौन

२० / साम्रिज्य, स्वभाव और भारतीयता

समझाये ? जिसे प्रयाग पहुँचना है वह काबुल की ओर जाने वाली गडो पर बैठ यात्रा करे तो क्या कभी प्रयाग पहुँचेगा ? कभी नहीं । भारत में व्यक्ति और समाज का अस्म विपरीत लक्ष्यों से निरुद्ध है, इसलिए हमारा मार्ग भी भिन्न है ।

हम अपनी राह पर चलें, अपने को पहचानें, अपने स्वभाव को समझें, अपने ऋतु सहे हों, अपना तंद हो, अपना भंग हों, अपनी धरा हों और उस पर अपना कर्म हों, अपने आकाश के तले अपने पत्तों से वैभव की खेती उगायें और अपने राष्ट्र मन्दिर में अपने विगद् पुरुष की आरती उतारें ।



अकर्मण्यता की जंजीरों में जकड़ा देश

[“अपने राष्ट्र का हित होने में ही अपना हित है, ऐसा क्या बने : कभी भी राष्ट्र की हानि पहुँचा कर अपना लाभ करने की चेष्टा न हो।”—अथर्ववेद की इस भाषना पर निरन्तर चिन्तनशील रहनेवाली विद्वानों से : कर्म के लिए पर्वत से टूटकर निकल पड़ने वाला पायल भी गंगा की धारा के बचेड़े सहजता एक दिन मंदिर का भगवान बन जाता है और अपने स्थान से चिपका परभर समय को रण्ड से टाक बन जाता है. पर धर्म ; इसीलिए राम-कृष्ण ने पलायन का नहीं, कर्म का आदर्श प्रस्तुत किया है।”]

कर्म की कोश में सृष्टि का उदय हुआ। “एकोऽहं बहुस्यामि” की कामना, कर्म का पावन स्पर्श या, विविध रूपों में रूपयित हुई। धरा कर्म की धारा में वही तो बहती चली गयी—कहीं विश्राम नहीं। अपने अस्तित्व के लिए अपनी कीली पर नाची, तो विराट की उपासना में भगवान् सूर्य के चारों ओर घूम करने लगे। अपनी कीली पर नाचते हुए, कभी भी वह अपने विराट के परिक्रम को नहीं भूली। चली जा रही है घूमती, वह यात्र की ओर दिन, रात, वर्ष ध्वलित होते जा रहे हैं, पर कर्म की यात्रा की कहीं विश्राम नहीं।

प्रकृति ने धरा के वैभव को अपने हाथों सम्हाला। सतत गतिवाद्, कर्म में रत, बसुंधरा प्रकृति के हाथों सजने और नैवरने लगी। तपन मिटी, वर्षों भी समयटी और बनस्पति ने अभिनव शृंगार किया। पर्वत अपनी ऊँचाई से उभरने लगे, सागर गहराई से हहरने लगे। कर्म का प्राकट्य हुआ और उसका सर्वोत्तम रूप निखरा भारत में—इसीलिए हुई यह कर्म भूमि, धर्म भूमि, जहाँ अवनरित हुए कर्म के लिए, राम और कृष्ण।

कर्म और का कोला-कोला, राम ने अपने श्रम से, पवित्र कर दिया। श्रम का कीलकारियों से लेकर, राजा के पाचक स्वरूप तक, कर्म की धारा अविश्राम रही। सुख और दुःख में कर्म निखरता ही रहा। कृष्ण कर्म का सन्देश ले धरती पर उतरे। उनका सम्पूर्ण जीवन कर्म की तुला पर तुल गया। कर्म का कौशल ही

योन बना और कृष्ण बने योगिराज । उसी कर्म का पाठ जन-जन, भारत में पढ़ना है, जीवन में उतारना है : वह कहता है :-

कर्म में दक्षिणे हस्ते जयो मे सच्य आहित ।

(अथर्व० ७।५२।५)

यदि पुनर्पार्थ मेरे दाहिने हाथ में है तो विजय वार्यें हुए में ।

कभी भी व्यक्ति बालस्य की चारपाई पर षड्धा जीवन समाप्त नहीं कर देना चाहना, वह चाहता है १०० वर्ष का कर्ममय जीवन, -

कूर्वन्ने वद्रे कर्मणि जिजीविष्वन्मम समाः ।

(यजु० ४०।२)

कर्म में दबाधत करने वाले पुष्पों को, कौन चाहेगा ?

मोने बान्ने को कियने सरान्ना ? आज का कवि भी तो कलकार बन कहता है :

जिन्दगी मोना नहीं है,

जिन्दगी रान्ना नहीं है,

जिन्दगी है, कर्म की पावन त्रिवैशी..... (डॉ० रामेश्वर द्विवेदी)

देवता की पुत्रशर्या को चाहते हैं, मीमे हुए को नहीं :-

इच्छन्ति देवा सुवर्नं न स्वप्नताय स्पृहन्ति ।

(श्रुवेद ८।२१५)

महाभारत-काल में राजा, ऐसे व्यक्ति को अपनी सभिति में नहीं बाने देना चाहते, जो स्वयं खेती नहीं करते -

न न स सभिति गच्छेद् यय नो निर्वियेक्युपिम् ।

(महाभारत उद्योग पर्व ३६-३१)

कर्म करने वाला ही यहाँ पूजित हुआ है, जन-जन का आराध्य बही बना है, जो जन-जन कर्म की उगर पर चला । बह्ना की आराधना नहीं, आराधना राम की हुई है । सेवा के भासात स्वरूप हनुमान् को उपासा गया, कही राजा कहे जाने वाले सुभीव को नहीं । आकाश को चूपने वाला पाषाण भी पूजा तो कब, जब कर्म की सागीरभी अपनी आँख से धना पर उतारी और उसे अचिराम बहलता रहा :-

इस हिमालय को बड़प्पन तब मिला है,

धूमि को जब आँख से धंसा पित्तार्ई ।

(रामावतार त्यागी)

वाकाश को छाती पर, फैली अन्धकार की चनीशूल पर्व को सूर्य की किरण कोरने के लिए बने कि उससे पहले ही भारत का हलधर अपने प्यारे बीनों को ले,

हल कन्धे पर रख, शरती का बंध चीर अपने रक्त को स्नेह बना, शरती में बने नल दिया। और मर्य ही, यह उनके अमजिन्दु ही तो हैं, जो गहलहाती फलन के रूप में उगे हैं यह उसके रक्त-कण ही ना हैं जो पुष्पी में, फलो में लाल-लाल लिखरे हैं, यह उसके हृदय से बहने वाली प्यार भरी कर्म की उष्मना ही तो है, जो गन्ध बन सर्वक लिखरी है। धरा माधन है। और गुरु साधक। माधन है बहु किराट, जिभकी माधना पुरुष को कर्ती है। यही साधना, कर्म है।

उत्पादन के सिध, समस्त साधन धरा अपना बल गुरु मनुष्यों के सामने प्रस्तुत करती है और उन साधनों का उपयोग करता है, उत्पादन के सिध अतुल श्रम का मण्डार, यह मानव। मानव श्रम की, प्रकृतिबल पूर्ण टफाई है जिसका विकल्प नहीं। पशु श्रित दे सकता है, पर कहीं खा है विकेक। कर्मों के ग्रेट, कहीं है कोकन। श्रम शीघ्रता कर सकता है, पर मानव हृदय और हाथ नहीं बन सकता। यन्त्र में बुना हुआ स्वेटर, अग्लो माँ के हाथ से बने हुए स्वेटर के प्यार के समझ धूब है धून। फिर यन्त्र वंचानन भी तो कोई शक्ति ही भरेगी, कोई बुद्धि ही करेगी और वह बुद्धि होगी मानव की।

मानव श्रम है, श्रम। वह भी कुशल श्रम। सधय है उसका कर्म—वह कर्म जो आनन्दमय है; सुखमय है और है हितवत्। देखा है, पीछे की सीकने हुए कभी वन माली का कितना आनन्द आता है उसे पीछों की कल उभरने वाली हरियाली की कामना में। और इसमें भी आगे, देश की सीमा पर भारतभूमि की रक्षा के लिए ब्रूभने वाले उन असर शहीद के आनन्द की कल्पना कीजिये, जो हूँसने-हूँसन बल पर गोली खा, हमारे बल पर विजय की माला पहना गया। वही है कर्म और कर्म में आनन्द की अनुभूति करने के लिए मानव-श्रम।

पेट भरने के लिए पशु है, मानव नहीं। पशु उपभोग की उकाई है और मानव उत्पादन की। पशु भूख शांत करने के लिए बीउता है और उनके लिए साधन के रूप में होता है उसका श्रम। मिट्टी का श्रम, पही साधन के रूप में किना गया श्रम है। मानव की यात्रा कर्म की यात्रा है। वह कर्म पथ पर चलता है। कर्म की छतर पर चलता रहे, इसलिए नेता है भोजन, इसलिए नेता है बन्ध, इसलिए चाहता है सर पर मरक्षय। 'रोटी, कपड़ा और मकान' उसका लक्ष्य नहीं, यह तो उसे कर्म के लिए सतत खड़ा रखने का, मात्र साधन है। चलने वाले इंसान को पेट्रील चाहिए, परन्तु पेट्रील के लिए इंसान की चाल नहीं। चलना इंसान का लक्ष्य है, पेट्रील उसका लक्ष्य नहीं।

कर्म का वैशिष्ट्य ही, मानव की पशु से भिन्न स्वरूप में प्रस्तुत करता है। पशु पेट क बलधरा पर रीगता है, चलता है। मदैव वह पडा है, पेट धरती की और

सदा ही शूद्र है। वेद ही उसका सर्वस्व है। इसीलिए तो हाथ और पैर दोनों ने वेद सीधे धरा की शरण में पड़ा है, परन्तु मानव बुद्धि को सबसे ऊपर रखकर और हाथों की शक्ति सदैव कामों के लिए तैयार रखकर पैरों पर खड़ा है। बुद्धि के इंगित पर हमके चरण मुड़ते हैं। और हाथ विवेक को आगे रल, कम से जुड़ते हैं। कर्म के लिए उठे हाथ ही पूजित हैं, भाग के लिए जुड़े हाथ पूजित नहीं। पुत्र का, भाई का, स्वामी का कर्म करने के लिए, उठा राम का हाथ पूजित हुआ है और भोग के लिये बड़ा गवण का हाथ कर्त्तक। ब्रज की रक्षा के लिए रठर मिश्रारी का हाथ ब्रह्मिष्ठ है और भोग के लिए बन्धु कर्म का तिरस्कृत। राम का, कर्म से पूर्णकाल—रत्नवास—रत्नारण का, रत्नवरिसमानस का प्राण है। रावण वध के पश्चात् रामराज्य की यशोनाथा का कहीं गान नहीं। कृष्ण का कर्म प्रथमिक हुआ है, कृष्ण का राज्य भोग नहीं।

‘आज कर्म की धरती पर भोग का शासन है। अकर्मण्यता पूजित है और कर्मण्यता तिरस्कृत। कर्म का राजपय सूना है और पगडडिनी पर लुटेरों की लूट है। इन्हें पैसे से मतलब है कर्म से नहीं। “.....पूज्य बापू की कदना दूट भयो। देश हमारी भी न रहा, हम उसके बेटे ब रहे।’

कर्म ही है, तो, जिसने कारा में जन्मे सामान्य-से जन्मे धाम्ने शिशु को कृष्ण बना दिया। कर्म ही तो है, जिम्ने बालक राम को पुष्पोत्तम राम और पुष्पोत्तम राम को भगवान् राम बना दिया। कर्म वह उपामना है, जो व्यक्ति में बैठे हुए सामान्य ‘मन’ को विराट ‘मन’ में परिवर्तित कर आत्मा को परमात्मा में प्रकट कर देती है। गौतम हो या गणेश, महावीर हों या विवेकानन्द यही कर्म की उपामना है जिम्ने उन्हें महान बनाया। कर्म के लिए पर्वत से दूट कर निकल पड़ने वाला पादाण भी गंगा की धारा के थपेड़े महुता, एक दिन मन्दिर का भगवान् बन जाता है और अपने स्थान से लिपका पत्थर समय की रगड़ से धिसकर राख बन जाता है, पर व्यर्थ। कर्म ही जल की धारा बनाता है और कर्म की उठान ही जल की भेज। कर्म ही मिथन का माध्यम है और कर्म ही मोक्ष का साधन कल-कल करती धारा, कर्म के चरणों ही, सागर के गले जा जगती है और गर्जता हुआ जल-धन कर्म के द्वार से ही, जीवन बन धारा से जा धरता है, या जाता है धूम्र योनि से मुक्ति। इसलिए तो राम ने, कृष्ण ने पलायन का नहीं, कर्म का आदर्श प्रस्तुत किया है।

कर्म जोड़ने वाला तत्व है। समाज की आधार लिना है, कर्म। समाज के सम्बन्ध, कर्म की डोर में बँदे है। कर्म न करने वाला व्यक्ति, समाज की लीडता है, जोड़ता नहीं। इसीलिए तो कर्म समाज का वाचन धर्म है। भगवद्गीता में, दिन-

राज एक कर देने वाली नीरस का जीवन हूँ, या मैं और पिता की सेवा में अतिथि स्वयं तक लगने वाला अथवा कुमार का छोटा से पया जीवन, अथवा ही प्यार की सतत बर्बाद करने वाला राम-कृष्ण का बरब हूँस सभी ता सभी कर्म के उपायक-है। कर्म से ही तो भक्ति श्रद्धा और ध्यान के पावन मन्त्रगंधों को स्थिर रखा है। कर्म तिलक का ही या पांशु का, कुम्हार का ही या हेडगेवार का कर्म है और इसीलिए समाज को संघटित कर लड़ा करने में सफल है। यही प्रेरणा का लोग है।

वर्तमान कर्म का नहीं नौकरी का आराधक है। आज देण, कर्म की छरनी नहीं, नौकरी का धर है। कर्म के लिए नहीं, नौकरी के लिए 'कर्म' सटक रहे हैं। राजपूतों पर बेकारों की भीड़ है। कार्यालयों पर शिक्षकों का प्रभाव है। सेवा-निर्वाहन कार्यलय कर्मियों की संख्या—बेकारों को—प्रदक्षित कर रहा है। उत्पादन का माधन 'श्रम' व्यर्थ पड़ा है। पदके का पावन साहित्य 'धर्म' विभाग के विस्तार पर है। व्यवस्था लड़खड़ा रही है।

क्या यह करोड़ी 'कर्म' कर्म के लिए कार्यालयों की कृष्ण खटखटा रहे हैं? क्या व्यर्थ युवा कुशल करने के लिए सडका पर निकल पडे हैं? नहीं नहीं! इन्हें कर्म नहीं, मात्र नौकरी चाहिये, नौकरी-वैसे का माधन। इसीलिए कार्यालयों में No Vacancy के पट तो सटक रहे हैं, परन्तु 'कर्म' की कुसियों पर कर्म रत 'कर' दिखाने नहीं पडते। विस्वादी भी क्यों पड़े? उन्हीने नौकरी 'अर्थ' के लिए की है, कर्म के लिए नहीं। 'अर्थ' का अर्जन कर्म से नहीं जुड़ा है जुड़ा है अलस आचरण से। इसलिए अलस आचरण ही आज वरुण्य है। कर्म निरस्तृत है, उपेक्षित है।

कर्म की समस्या का निदान 'पैसे' में लोडा जा रहा है, पैसे की दासता में मनुष्य को जकड़ा जा रहा है और दानता की अकर्म में प्रसन्नता की अनुभूति करना चाहता है, समाज। कितना विचित्र है यह? दासता में स्वतन्त्रता की अनुभूति मला कैसे सम्भव है। पैसा 'मनुष्य' और 'समाज' का शासक बनकर बैठा है। कर्म की धरती पर शोक का सामन है। पैसा कर्म की समस्या का समाधान नहीं। "कर्म" के प्रश्न का भोग के साक्षात्कार में उत्तर? असम्भव—नितान्त असम्भव। कर्म के बदले में पूँजी का मिथान्त, कमाने वाले को तो रोटी दे सकता है परन्तु बुद्ध भाँ, बाप और पिता को रोटी देने देगा? 'कमाने वाला लायेगा' तो फिर कौन पूछेगा अथवाय पडे माँ, बाप को, रुदन करते शिशुओं को। सभी का पानन-पोषण ही "जो जन्मा तो लायेगा", इसलिए पैसे का नहीं कर्म का पावन उद्बोध चाहिये। पूँजी का नहीं, धर्म का शासन चाहिये। धरत का कर्म चाहिये, धर्म का धर्म चाहिये—

विश्व तरण पोषण कर जोई ।

ताकर नाम भरत कस होई ॥

कर्म अरु बोझ है । बोझ की भला कौन चाहेगा ? शक्ति चाहता है, शोक से मुक्ति । और मुक्ति के लिए साधना है साधन । कर्म के लिए उसके हाथ नहीं उठने, उठने हे, उमरू पैग पर बिकने वाले कर्मचारियों के कर । कर्मों के 'कर' कर्म पर नहीं लगते, लगते है कर्म पर दण्ड और ये दण्ड एक के नहीं दो के नहीं, मृत्यों के कर्म को मोक्ष जाते है । कर्म न करन बाना, पुत्रित हो उठता है और कर्म करने वाला शक्ति अर्थात् प्रथमपुत्रा पुत्रित है और कर्मपुत्रा निरम्कृत । बडा बहो जो दूसरे के रक्त पर जिये और छोडा बहो जो रक्त को बूँद-बूँद पमीता बना बहो की सध से बहो वे ।

श्रम न करना पड़े इत्यर्थिण बने हूँ ये यन्त्र । श्रम न करना पड़े इत्यर्थिण है ये मेवक । श्रम की समाप्त किया जाये, इसीलिए तो उभरे हूँ ये सम्पूठर । महान् उपनिषदों का कार्य एक निर्जीव यन्त्र करेगा । कैसा और कितना है विश्व यत् । व्यक्तियों को काम जिये इत्यर्थिण अर्थय जोजे जा रहे है, नई-नई योजनाएँ बन रही हैं और काम न करना पड़े, इत्यर्थिण यन्त्र जाये जा रहे है । परस्पर-विरोधी प्रयास ।

कहो-न-कही घुटि है, इस निरुक्त में, इस सन्ध में । एक ओर हम कार्य के क्षेत्र मोड़ने हैं दो दूसरी ओर कार्य के द्वार बन्द कर देते है । या तो हम कार्य के क्षेत्र का निरनाग करें, जिसमे सभी को कार्य मिले अथवा हम कार्य को कम करने वाले जायें जिसमे कि हमे कर्म न करना पड़े और श्रम के कठिन पंको मे हमें मुक्ति मिले ।

कर्म न करना पड़े, यह असम्भव है । इस इसी की ओर दौड रहे हैं । यह हमारा वृक्षस्थ है । हमल मशीनों इसीलिए जुडाई हैं और तब-तब जायिकार बन रहे हैं, चलते रहने और असम्भव को बाधने के लिये दौडते हुए एक दिन जब मुह के बल गिर पड़ेगे, तो सम्भव के चरण पकड रोयेगे और सम्भव हीमलिया भी तो हम कर्म करने के अस्पन्त न होने के कारण खड़े भी न हो सकेंगे । कैसा भयावह होगा वह दृश्य ? आज भी व्यक्ति, जो मीलों पैदल चलता था चलने का अग्रगम होडा कर, चार कदम पैदल नहीं चलता चाहता तो कन चल नहीं पायेगा ।

कर्म करना पड़े, यह सम्भव ही नहीं निश्चित है । यही विश्वास है । मृष्टि का नियम है । इसीलिए हाथ हैं । इसीलिए चरण है । इसीलिए बुद्धि है । कर्म करे, कर्म से भागे नहीं ; कर्म से बचा नहीं जा सकता । हाँ, इतना अवश्य है कि पीडा देने वाले कर्म को आनन्द देने वाले बदला में हम अवश्य बदल सकते हैं ।

[ऐसे के संकेतों पर ही समाज नाच रहा है। कर्मचारी ही था अधिकारी उसी के गुलाम है। इन्हें ऐसे के मतलब है, कर्म से नहीं। कहाँ रहेगा अकर्मियों का यह काफ़िला ?]

आज हम कर्म को भाव्यम मानकर चलने हैं और उसके बदले में 'पूँजी' की कायना करते हैं। कर्म का प्रतिफल चाहते हैं, जैसे भे। समस्या गड़ी है। इर्मालिए यह सारे हैं 'जैसा काम वैसा फल,' 'क्यासे वाला खयोगा,' 'देरी भागें पूगी हो चाहे जो मजबूरी है।' पुलिस वाला हमलिए कर्म नहीं करना कि उसका शायित्व है, अपितु हमलिए कर्म करना है क्योंकि उसे वेतन मिलता है। शिक्षक हमलिए शिक्षा नहीं देता क्योंकि शिक्षण उसका फल है, अपितु इसलिए पढ़ाना है क्योंकि उसे वेतन मिलता है, भीमा पर प्रहरी इसलिए नहीं पडा है, क्योंकि वह मातृभूमि की रक्षा में रत है, अपितु इसलिए पटा है, क्योंकि वह वेतन पाता है। उर कर्म के बदले फल—पूँजी—को कामना समाज की निष्ठाओं को इवस्त कर रही है। फल की भूख बढ़ती जा रही है और दायित्व कीशे सरकटा जा रहा है। फल जने बिना कर्म के मिल रहा हो तो फिर कर्म क्यों किया जाये ? प्रमुख फल है, कर्म नहीं। फल साथ पैसा है, किमो का हित नहीं। इसलिए ऐसे के संकेतों पर ही समाज नाच रहा है, उसी की दासता से बँधा बँडा है। कर्मचारी हां या अधिकारी, उसी के गुलाम है।

'अर्थ' की दासता के बन्धन की तीशे। 'कर्म' को ही हम फल स्वीकारें। 'कर्म' ही हमारा साध्य बने। 'कर्म' से ही हम धामन्द लें। क्रिकेट का खिलाडी क्या क्रिकेट में होने वाले अर्थ में आनन्द नहीं लेता ? दौड़ने वाला धावक क्या दौड़ने में आनन्द नहीं लेता ? मन्दिर की स्वच्छता में जुटने वाला भक्त क्या स्वच्छता के अर्थ में आनन्दित नहीं होता ? देश के लिए जूझते, वाला देशभक्त क्या आनन्द में नहीं नाच उठता ? पछिये दररोगर से, सुनिये मिलखा सिंह से, सोनिये राम कृष्ण की और ध्यान दीलिये भगत सिंह का। क्या ऐसे का आनन्द उन्हें कर्म के लिए खीचता था ? क्या प्रलोभन उनके कर्म का आधार था ? नहीं, नहीं। 'कर्म' ही उनका फल था। अर्थ में ही उन्हें आनन्द था। 'कर्म' को 'दायित्व' के भारी बोझ से निकाल, उन्होंने खेल के आनन्द और भक्ति के रस में हुवा रखा था। खेल का आनन्द ताड़का-बध कर सकता है, काली नाय को नाय सकता है, सिंह के वति गिन सकता है, सिंह को फाड़ सकता है और भक्ति का रस बदले को दीवारों में बूनना सकता है, फौसी के फन्दे पर झुना सकता है, सोने पर गोली खा सकता है। भक्ति का आकर्षण हो तो है, जो जापान की, जर्मनी की, इजरायल को संसार में निरमोर बनाकर उठाये हैं। देशभक्ति से प्रेरित वहाँ का नेटा हडताल भी करता

है ता अधिक काम करने की। ऐश्वर्य की लहर में अकर्मभ्यता कूड़े-करवट की तरह एक तरफ जा टिकती है और कर्मभ्यता की यही हरहराली शक्ति देश को कर्म की पावन धारा प्रवाह करती है।

अर्मनों और आपान इसी धारा में उभरे हुए पावन प्रतिमा के स्वरूप हैं जिन्हें विश्व कील उठा, गौरव से वेदना है। यह कर्म का ही आत्मन् है। जब कर्म में आत्मन् आयेगा, जब धर्म से प्रेरित हो हम कर्म का रथ लेगे, तब कर्म के लिये मन मन्त्रणा, पुत्रार्थ कर्तव्य, अरण चल पड़ेंगे। 'कर्म' से कौन आगना चाहेंगा कि, क्या तुमारे से शब्द की कोई धान मकेगा? क्या माघी के मत्याग्रह की कोई रोक मकेगा। निरुक्त जी लभकार उठेगे 'आराम हराम है'। कर्म में आत्मन् जो है, न। कर्म के लिए कौन भाँ ब्रह्मणेयी? अपने बेटे के लिए क्या हाथ से बनाकर भोजन न देना चाहेगी? उसका प्यार क्या बेटे को होटल पर जाने देगा? नहीं। बल् कर्म में आत्मन् लेगी, बेटे के लिए पत्नीसा ब्रह्मणे ये प्रमथ होती। कर्म में आने बाया आत्मन् मशीनो को बाहर केंकेगा। कर्म के अवनर समाप्त नहीं होंगे, मशीन को निरेंगे। 'कर्म' पूज्य होगा, मशीने नहीं।

धी मद्भववर्षीना मे कर्म और फल दोनों को अलग-अलग रखा गया है। कर्म लोकसंग्रहार्थ एव ईश्वरशक्ति के रूप में करना है—

यत्करोषि यद मसि यत्तुहोवि वदामि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व सवर्षणम् ॥

(ईर्षा अध्याय २७)

हे शर्वुत तुम जो कुछ खाते हो, जो कुछ करते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तप करने हो बल् सब मुझे अर्पण कर दो। हमारे कर्म का लक्ष्य भववद् आराधन हो सकता है। देश आराधन हो सकता है। ऐसे भक्तों की चिन्ता का धार स्वयं भगवान् ने अपने ऊपर लिया है—

अन्याभिलन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं ब्रह्ममहम् ॥

(ईर्षा अध्याय २२)

जो अन्त्य माव में मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य कर्मयोगियों के योगक्षेम का मैं विचार करता हूँ।

इस प्रकार कर्म की प्रेरणा 'पूजी नहीं'; 'धर्म' है। कर्म फल की कामना के लिए नहीं, ईश्वरशक्ति के लिए है।

ऐसे कर्म में केन्द्रीयकरण कहाँ? ऐसे कर्म में पूजी का अर्थ कहाँ? यह तो जन-जन का कर्म है। समाज के जन-जन के लिए कर्म का फल है, चाहे कर्म एक ही

व्यक्ति का नया न हो। कर्म में व्यक्तित्व स्वतन्त्र है। बड़ पैरे का जरा नहीं। बड़ किसी का बिका हुआ सेवक नहीं। अपनी इच्छा से लगा हुआ कर्ता है और कर्ता भी आतन्त्र के लिए, भक्ति के लिए। उसके अपने कर्म से उसका पूर्ण विकास है। यही व्यवस्था तो लोकतांत्रिक व्यवस्था है, विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था है और समग्र कान्ति की वाहक व्यवस्था है। जहाँ कर्म के लिए सरकार के दरवाजे नहीं घटवटाने हैं। वह तो अपने द्वार पर बैठा, अपने मस्तिष्क से अपने धर्म के कौशल को निष्कारता है। अपने आन्ध में रमता है। अपने रम में डूबता है। शासन का मात्र संरक्षण चाहिए।

पैसा कर्म का श्रोत नहीं, मात्र आकर्षण है। जिसकी प्राप्ति के लिए कर्म का राजपथ नहीं। झूठाचार की गण्डविड्या बतों हैं। कर्म का राजपथ आज नूतन है और गण्डविड्या तो पुरे लुटेरी की भीड़ है। दिन छो या रात कामलेख हू या घर, विद्यालय हो या न्यायालय, सुन्दर और सभ्य दिखने वाले यह बटमार अपनी-अपनी गण्डविड्या पर अर्धों गड़ाये बैठे हैं। जिसका आया और काम बना। इन्हीं पैसों से मतलब है, कर्म से नहीं और पैसा अपने डेन से मिलता है, कर्म से नहीं। निश्चय ही कर्म का सम्बन्ध बाहर के आकर्षण से नहीं अन्दर के भाव से है, जो उसे बँधने नहीं देता। आज यही भाव समाप्त हो गया है। इसीलिए बदमाश अभिभावक बन रहा है। धर्म-जनमकथा—लक्ष्मी का वाहक नहीं, लक्ष्मी का शोषक हो रहा है और शोषण करने वाले इन धर्म को समाप्त करना हमारा लक्ष्य हो गया है, आज। कहीं लक्ष्मी अकर्मण्यता का यह काफिला ? जालस्थ में डूबा इतिवार भोजन सामग्री का सीमित देना, आने वाले को आने नहीं देना, तो नहीं बढ़ती हुई भावना परिवार के सदस्यों को एक-एक कर विदाई भी करना प्रारम्भ कर देनी ! आज एक को परलोक भेजने तो कल दूसरे को। यह मार्ग मनुष्यता का मार्ग नहीं है, कर्म का पथ नहीं है। भाग्य का पथ है।

हाथ उठाओ और सम्पदा पैरो पर लीटेंगी। कर्म के आगे लक्ष्मी डोहें चली जाती है 'कराये असने तादमी'। कर्म के लिए उठे सो हाथ पुरे परिचार का भरण-पोषण करते हैं। परिवार के जब पुरे हाथ उठेंगे तब, परिवार ही नहीं, देश और देश को लक्ष्य कर विश्व में सम्पदा बिखरेगी। बल पेट को भरना ही न सीखें, पेट में ऊपर उठकर, कर्म को देहरी पर, दोनों हाथ लगायें। कर्म के लिए एक भाग्य करोड़ों हाथ उठे और लक्ष्मी करोड़ों हाथों में ही नहीं, घर-आंगन, डगर-डगर बरसे। रेगिस्तान और पथरीली धरती के बेटी से, जहाँ पाने को भी पानी नहीं, अपने कर्मन्त हाथों को कर्म के लिए, आकाश में उठा लक्ष्मी और भक्ति का बैरी बना रखा है। भला भूल सकता है कोई आज इजरायल को। ध्वंस होने के पश्चात्,

पौरुष के बल पर जर्मनी सीना तान खडा हो गया। मिट्टी में मिला जाने के बाद भी, टापुओं पर पत्रों 'कर्म' की चिन्मारी को जुटाते हुए जापान, संसार का सिरमौर बन गया। क्यों ? क्या नौकरी की भावना से ? क्या अपने लिये पैमे बटोरने की भावना से ? नहीं। भक्ति की प्रबल धारा से, देशभक्ति के प्रचंड प्रवाह से। कर्म देश के लिए, कर्म देश के सम्मान के लिए, कर्म विश्व-कल्याण के लिए यही यह पथ।

इसलिए, देशभक्ति की धारा उमड़ने दें, बहने दें, तीव्र बहने दें, हतनी तीव्र कि सत्ता और स्वार्थ की समस्त कामनाएँ डह जायें, अष्टाचार का व्याप्त कलड़ा बहता हुआ सागर में जा विलीन हो जाये, अकर्मण्यता प्रवाह में बहने लगे और सर्वज्ञ कर्म की भागीरथी हहरने लगे। जीवन सम्पत्ता और सुख से भर लें। धर्म भूमि भारत फिर से कर्म भूमि बन सरसे—लक्ष्मी चरणों पर लोटे। समस्त समस्त यात्रों का निदान है—देशभक्ति।

लोक-कर्तव्य के निर्वाह का साधन

मृष्टि चलने का क्रम है, रुकने का विधान नहीं। प्रलय के हाथ जिसे धाम न मके, विनाश के चरण भी जिसे विराम नहीं दे सके। विपत्तियों की आंधियाँ आधी और गयीं, दिक्कत के बादल बरसे और साफ हुए। प्रकृति के अमर चिह्न किसी क झुकाने न झुके। अवरोधों को रौंदते, वे उठते हुए, बढ़ते गये। हिमाद्रि उठा तो छूटा गया, सरय माया (भाउण्ट एवरेस्ट) सरय का मस्तक झूने लगा, ब्रह्मानन्द बाँधों की बाढ तो सागर में ऊहरने लगा; यही तो जीवन्तता है। यही तो जीवन है। कौन जीना नहीं चाहता ?

जड़ ही या चेतन, किसी के चरण जीवन की डगर पर धमे नहीं। धरा, अपना अस्तित्व से, सूर्य के चतुर्दिक, नैन में लगी तो सगी, कभी हकी नहीं। चन्द्रा परिक्रमा के पथ पर कब रुका ? धरा के चारों ओर उसकी चाल चलती रही और चल रही है। वेग से उफनती सरिताएँ धरा पर, सागर में मिलने, आकाश को चमती ऊँचाइयों को छोड़, दौड़ी, तो दौड़ी जा रही हैं। घहराते-भँडराते बादल, सागर की गोद छोड़, पर्वतों की चोटियों को चूमने और चूमकर बरसने उमड़े-तो सके नहीं-बरसे जा रहे हैं। कहाँ रुकी है, जीवन की दौड़ ? पक्षियों में चहक, पुष्पों में गन्ध, पशुओं में दहाड, पुरुषों में कर्म, उसी की तो दौड़ है। सर्वत्र दौड़ रहा जीवन।

जीवन का प्रवाह ममग्रता में है; अकेलेपन में नहीं। पर्वत हो या सागर, मेघ हो या सरिता, पशु हो या पक्षी, पुष्प हो या पुरुष, अकेला निष्प्राण है। मेघ के बिना जल, जल के बिना सरिता, सरिता के बिना सागर, कौन सोवेगा ? जीवन चैतन्य का स्पन्दन सभी को साक्षे है। अलग किसी का अस्तित्व नहीं। सब उसी चैतन्य के अंश हैं, उमी विराट के अंग है, विराट् उगमें व्यक्त है।

विराट गया तो व्यक्ति शून्य हुआ। समष्टि के बिना व्यष्टि की कल्पना कैसे ? इस समष्टि की सज्ञा कौन-सी दें ? समष्टि जिसमें, स्थूल, जड़ और चेतन सभी समा जायें। समष्टि, जो सर्व को समेट, सीमानों को लाँच जाय। समष्टि, जो राजनीतिक दीवारों की नीमाएँ तोड़, अपने अर्थ की पूर्णता की ओर बढ़ जाय। 'राज्य' कहे तो इकाई राजनीति को सामने आती है, 'समाज' कहे तो व्यक्ति छोड़

शेष मृष्टि छूट जाती है, 'राष्ट्र' की भीमा भी छोटी पड़ जाती है। यह विराट् तो बाँधे नहीं बँधता। 'विश्व' भी तो भौगोलिक क्षेत्र के विस्तार का भाव है, मात्र। 'जन' यहाँ ठहरता नहीं, 'प्रजा' का प्रश्न नहीं। जले, चिन्तन के कांड में, अर्थात् के पृष्ठी को पलटें-देखें शब्दों के व्याप को।

हाँ, शब्द है 'लोक'। सभा, सभ्य और सभ्यता से भी पुराना-एक आधार-भूमि और उत्स। 'राज्य' तो बहुत पिछड़ी कडी है। लोक' एक ऐसी सर्वानुभूती धारणा है कि उसमें दृष्टि-द्रष्टा-दृश्य' कर्म-कर्म-क्रिया, विषय-विषयी' का समाहार और समन्वय है। इस प्रकार लोक की महत्ता भवोंपरि है। अपने विस्तार से यह सर्वभोग मानवता और अखिलता को भी पार कर जाता है और भकोध में स्वार्थ तक को पचा जाता है।

धरा से जन्मा वेदा-धरा के लिए है धरः के साथ। धरा का पुत्र, अपने सम्पूर्ण प्रयामों, परिणामो-अतीत, वर्तमान भविष्य-को ले अपने लोक का व्याप बनाता है। मानव धरा की ही तो देन है। धरा ही उसमें वैठी है-माँ ही उसमें बोल्ती है। वह उसकी हड्डी और माँस में तथा उसके मस्तिष्क और आत्मा में प्रवेश कर गयी है। भौगोलिक इकाई देश पर खड़ा उसका सहज विकास, एक लोक का क्षेत्र है, जिसमें धरा है और जन भी, काल भी है और क्षेत्र भी, अपना जीवन है और अपनी दिशा भी।

'धरा से जन्मा पुत्र धरा के लिए' एक पूर्ण चक्र है। विकास का सहज रूप। व्यक्ति माँ की गोब से आँगन-आँगन से गली, गली में गाँव, गाँव से जनपद और जनपद से आगे समाज की बृहत् इकाइयों को लपिना विराट् समाज-सागर में, स्रिता-सभान, गर्मित हो जाता है। व्यष्टि, समष्टि में खो जाता है। नर, नारायण में रम जाता है। व्यक्ति का विकास इसी समर्पण की कसीटी पर आँका जाता है। मानव ईश्वर की चेतना का उत्तराधिकारी है। उसके अन्दर युजन की प्रेरणा है। वह स्वर्ग को, स्वयं से ऊपर उठा सकता है। यही चेतना तो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। मनुष्य ही बयो, पशु-पक्षी और पापाण को भी बाँधती है। समष्टि के साथ एकारमकता ही व्यक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था है।

प्राकृतिक मीमांसो से संरक्षित, एक निश्चित भूखण्ड पर अनादि काल से चलता चला आया समाज, मुख-दु ख के अनुभवों को लेता हुआ, एक निश्चित जीवन-पद्धति विकसित करता है। प्रकृति के साथ सघात में उपजी यह जीवन-पद्धति ही उसकी संस्कृति है। भूखण्ड की प्रकृति के समस्त लक्षण, इस संस्कृति में व्याप्त है। भारत की विशालता, भारतीय की मन से विशाल बनाती है, भारत की सभ्यता भारतीय को उदार बनाती है भारत की विभिन्नता भारतीय को समन्वय का पाठ

पढाती है, भारत की प्राकृतिक पूर्णता, भारतीय की पूर्ण जीवन-दर्शन का आवरण सिखाती है, भारत की जलवायु, भारतीय की पुनर्जन्म का सिद्धांत समझाती है, भारत की सरिताओं का कल-कल कर हिमाद्रि से अरब सागर में मिलन, भारतीय का समष्टि-हित समर्पण का पाठ पढाता है।

समाज में, समाज की धरती बोला करती है। समाज, समाज की धरती और समाज-जीवन-पद्धति मिलकर ही लोक है। समाज धरती में जुड़ा है, समाज के जन-अंश में मैं धरती का भाव है। अतीत में धरती पर जन्मे पुत्र, उसके पूर्वज हैं, वर्तमान के दासी, उसके भाई है और भविष्य के वासी, उसके सुखद सुत। एकात्म की धारा में बँधा है, सम्पूर्ण समाज। एक उसका लक्ष्य है, एक उसकी दृष्टि है, एक उसका पथ है और एक ही जीवन है। यह विराट् पुरुष है, जिसके करोड़ों कर हैं परन्तु कृति एक है, करोड़ों चरण हैं, परन्तु गति एक है, करोड़ों नेत्र हैं, परन्तु दृष्टि एक है। इस लोक-जनुभूमि को जो अपने जीवन में जी सका, इस धरती के वैशिष्ट्य को जो अपने आवरण में उतार सका, इस समाज-धर्म को जो लेकर चल सका, वही हमारा आदर्श है-सबका आदर्श है।

सतदाताओं का समूह नहीं

यह 'लोक' व्यक्तियों का जमघट नहीं, सतदाताओं का समूह नहीं, अपितु स्वयं-भू, मावयव आवनमान अस्तित्व है- एक विराट् पुरुष-जिसके हम सब घटक हैं, हम सब अवयव हैं। उन अवयवों को परिचालित करने वाली, एक पूव में पिरानी वाली, एक चैतन्य शक्ति, शरीर की अस्मिता है।

इसे चित्त कहिये। जो सब में समान रूप से स्पन्दित है। इसका स्पन्दन सन्नता रहे—सबमें समान-यही स्वस्थता का लक्षण है। जहाँ स्पन्दन अवरुद्ध हुआ कि अंग मिथिल। इस लोक को संभालना ही तो लोक-धर्म है। व्यक्ति का पूर्ण विकास, समाज का पूर्ण उत्कर्ष, धरा का पूर्ण चैतन्य और सनातन समाज जीवन धारा का—अतीत की गहराइयों से भविष्य की ऊँचाइयों तक-पूर्ण प्रतिफलन हो, ऐसा चाहिए पथ, ऐसा चाहिए तन्त्र।

दायित्व की पावन धारा, समष्टि के पावन गोमुख से निकली है। भारतीय जिसे पंच यज्ञों में जीता है, उसी के सहारे 'लोक रथ' चला है। लोक में व्यक्ति का विलय और विलय से व्यक्ति का उदय। जितना विलय उतना उदय। विलय की जितनी गहराई, उदय की उतनी ऊँचाई। लोक का तन्त्र केवल शासन का तन्त्र नहीं केवल राज्य की व्यवस्था नहीं, समाज की केवल अवस्था नहीं, वह तो सम्पूर्ण जीवन की व्यवस्था है।

लोकतन्त्र माने-जीवन-पद्धति

लोकतन्त्र तो जीवन-पद्धति है। यह जीवन का ढंग है। जहाँ स्वार्थ का शून्य नहीं, सेवा का सागर हिलारे जाता है। शोषण नहीं समर्पण चलता है। सत्ता नहीं, समाज पूजित है। तब नहीं, लोक-आधारित है। लोकतन्त्र में लोक ही सब कुछ है। मर्रा का तन्त्र कोई हो—किन्तु नियन्त्रण लोक का, यही उसे लोकतन्त्र का स्वरूप देता है। राजतन्त्र पर लोकतन्त्र का यह नियन्त्रण भारतीय राजनीति की अपनी विशेषता है।

राम का 'लोकतन्त्र' आज के प्रजातन्त्र से किसना अधिक लोकतांत्रिक है। जहाँ राम के कार्यों में 'लोक-इच्छा' का ध्वनन है, राम के कार्यों पर 'लोक-इच्छा' का नियन्त्रण है और राम के जीवन में 'लोक-इच्छा' का आराधन है। इससे अच्छा और लोकतन्त्र विश्व में कहाँ है? इसमें अन्धे लोकतन्त्र की और कौन कल्पना की जा सकती है?

पश्चिम में जिस राजसत्ता के कारण राजतन्त्र का विरोध हुआ, वही राजसत्ता लोकतन्त्र का अधिकार और अन्त्र घनी। आज इसी तन्त्र की ओट में सत्ता दृष्टियाने वालों के द्वारा, उसी अन्त्र के द्वारा, लोकतन्त्र की हत्या में अतीतिक प्रयास हुये हैं। आज सत्ता में सरकारें निर्वाचित तो हैं, पर लोकमत द्वारा नियन्त्रित नहीं। लोग, नाम के लिए अपने स्वामी हैं, पर वास्तव में वे श्वस के बसिन्तः और कुछ भी नहीं। हों भी कैसे? जब सभी सत्ता की ओर ही देखते हैं, प्रत्येक भिदान के लिए सत्ता का संकेत जोड़ते हैं और अपने पैरों की शक्ति के लिए सत्ता के पैरों पड़ते हैं। यह दिशा ही विपरीत दिशा है। यह विचार ही गलत है।

सत्ता की शक्ति तो समाज के हाथों बनी है। लोक-शक्ति ही सत्ता की शक्ति का स्रोत है। सत्ता समाज की रचना है। समाज ने उसे ढाला है। समाज उसका स्वामी है। वह बेरी है। बेरी से रामों बनी कि विनाश भूषा। राजा अपनी प्रजा का स्वामी नहीं है; वह उसका एक आनुष्ठानिक प्रतीक है। राजा को प्रजा छोड़ सकता है, राजा प्रजा को नहीं छोड़ सकता। राम कहते हैं 'मे आन गबको छोड़ सकता हूँ, अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, लेकिन प्रजा को नहीं छोड़ सकता।' राम-राज्य को यही विशेषता है। इसलिए तो वे आदर्श हैं। राम शासन करने वाले में अधिक लोक-धर्म से शासित होने वाले हैं। बड़ बड़े राजा इसलिए नहीं, कि वह पराक्रमी हैं या वृद्धिमान थे या उदार हैं, अपितु आदर्श राज इसलिए हैं कि वे मर्यादाओं से बंधे हैं, प्रजा उनके लिए सर्वस्व हैं, उसी की आराधना में रत हैं। वह प्रजा में ऊपर नहीं, वे प्रजा की हैं। प्रजातन्त्र के बीतर का यह भाव सही और स्थायी है।

कर्मक्षेत्र धर्मक दृष्टि एक

जेब कोई भी धर्मो न हो, लोकतन्त्र लोक-कर्तव्य के निर्वाह का साधन है। कर्तव्य व्यक्ति की आराधना का हो या समाज की साक्षता का, अपनी के आधान पर खड़े होने का या भविष्य की कल्पनाओं को साकार करने का, कर्तव्य लोक धरानज पर प्रतिक्रित होना चाहिए। उसमे लोक की भावना चाहिए, लोक की आरणा चाहिए, लोक-विमुख कर्तव्य कर्तव्य नहीं हो सकता। अपनी साधन भी लोक-हित में जुड़ी भावना है। जहाँ लोक का धर्म है, वहाँ अपना हित कैसा ? प्रत्येक कर्म में लोक सामने है। कर्म के क्षेत्र अनेक है, पर कर्म की दृष्टि एक है। प्रभुत्व से मनुष्यत्व, मनुष्यत्व से देवत्व और देवत्व से तारायणत्व प्राप्त करने की यही तो दिशा है। सम्पूर्ण के बढ़ते हुए स्तर के साथ, व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्तर भी बढ़ता है। लोक-हित कसौटी है कर्म के स्तर की। व्यक्ति हो या समाज, इसी कसौटी पर अपने को कस, सम्पन्न कहलाने का दावा करता है।

राज्य में लोकतन्त्र

प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता स्वयं अपने प्रतिनिधियों द्वारा किसी व्यक्ति, किसी परिवार, किसी वर्ग किसी समुदाय के हित में नहीं, बसितु सम्पूर्ण रूप से जनता के हित में शासन करती है। यहाँ दैवी विधान किसी को सत्ता नहीं सौंपता, लोक ही सत्ता सँभालता है। लोक-हित उसके लिए सर्वोपरि है। सत्ता तो मात्र साधन है। इमीलिए सत्ता पर बैठे हुए लोक के प्रतिनिधि, लोक के प्रति उत्तर-दायी हैं। जनता की इच्छा ही यहाँ सर्वोपरि है। लोकतन्त्र शासन वह शासन है, जिसमें शासन जनता का, जनता के लिये और जनता के द्वारा हो। प्रभुमत्ता, जनता में निहित है। उसकी इच्छानुसार सत्ता में वे लोग शासन करें।

राज्य में लोकतन्त्र

जहाँ मन्त्राधिकार और भाषण की स्वतन्त्रता तो है, परन्तु शोषण का साम्राज्य है, वहाँ लोकतन्त्र कैसा ? अल्पतन्त्र पूँजी का दबोर धर्म के पसीने को चूषने हुए उद्योगपतियों के हाथों में लोकतन्त्र को गिरवी रख दे, तो वह लोकतन्त्र कैसा ? लोकतन्त्र में तो प्रभुत्व जनता का है, नियन्त्रण जनता का है और सत्य जनहित का है। लोकतन्त्र में सत्ता नहीं लोक सम्बंध है। लोक का जन-जन सम्बंध है। गाँव-नागर, सेत-खनिहास, मकान-दुकान सम्बंध यही वैतन्त्र्य है। नागरिक अपने अधिकार, अपने कर्तव्य भूलते नहीं। अधिकार छोड़ते नहीं, कर्तव्य से भागते नहीं। न वे रूगे हैं और न बहरे। आवाज उठाते हैं और शासन में उनके हाथ, पैर भी चलते हैं। जनता है कि लोक-इच्छा शासन करती है, लोक-इच्छा नियन्त्रण करती

है और लोक-इच्छा का सभी कर्मों में ध्ववन होता है। नागरिक की प्रतिष्ठा उसमें स्थापित है।

समाज में लोकतन्त्र

सब व्यक्ति समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति का सुख किसी भी अन्य व्यक्ति के सुख के बराबर है। किसी की भी अन्य व्यक्ति के सुख के लिए साधन नहीं बनाया जा सकता। समाजता का विचार ही लोकतन्त्र को बाँधता है। यह आध्यात्मिक न इंग्लैण्ड में है, न अमेरिका में और न आज अपने देश में। इंग्लैण्ड में ईसा और लफासियों के आधार पर कुछ को विशेष सम्मान है। अमेरिका में काली लोगों का स्थान नहीं, भारत में अस्पृश्यता आज भी जकड़े है। समाजता और स्वतन्त्रता की जीवन-रेखाएँ, आधारभूत रेखा-बन्धुत्व की भावना पर चलती हैं। लोकतांत्रिक समाज इन्हीं रेखाओं से बना एक त्रिभुज है। एक भी रेखा में हटते ही समाज का लोकतांत्रिक रूप मिट जाता है।

व्यर्थ है वह कर्म, जो कुछ दे न सका। व्यर्थ है जीवन, जो न बना, न बना सका। व्यर्थ है व्यवस्था, जो न बँधी, और न बाँध सकी। कर्म का, जीवन का, व्यवस्था का कुछ मूल्य है। मूल्य न रहा, तो कर्म कैसा? जीवन कैसा? व्यवस्था कैसी? मूल्य ही तो आधार है अस्तित्व का। आचरण इमो बल पर, आदर्श वगैरह है। आज भी हम कहते हैं, करने नहीं, विचारते हैं, आचरण से नहीं लाते, तभी तो 'सत्यमेव जयते' शब्द है पर अर्थ कहाँ? प्राण कहाँ? उनमें शक्ति कहाँ? 'लोकतन्त्र' है पर भाव कहाँ? लोक की शक्ति कहाँ? इकाई में निहित मूल्य का लोप हुआ, तो इकाई कैसी? इसी पर तो इकाई का भवन खड़ा है।

लोकतन्त्र का मन्दिर बन्धुत्व, स्वतन्त्रता, समानता और न्याय की नींव पर राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, लोक सम्प्रभुत्व और धर्माधारिता की दीवारें से, लोकमत के सम्बन्ध पर, लोक-भावना की पताका फहराना खड़ा है। इसमें लोक का देवता प्रतिष्ठित है। इस मन्दिर में उसी की साधना है वही आराध्य है, वही साध्य है। देवता के बिना मन्दिर सूता है। देवता की भावना के बिना मन्दिर निष्प्राण है, इसलिए लोकमत के ज्ञानो लोक भावना की पताका फहराती रहे, लोक-मत स्व-चेतना, धर्माधारिता, लोक सम्प्रभुत्व और राष्ट्रीयता की मजबूत प्राचीरों पर सदा रहे और सघी रहें ये प्राचीरें गहरी नींव पर-बन्धुत्व, स्वतन्त्रता, समानता और न्याय की।

एक भी नींव के हिस्से ही प्राचीरें हिल जाँगी और लोक-भावना की पताका नीचे आ गिरेगी। नींव से लेकर पताका तक सर्वत्र लोक-चेतन्य रमा है। इसी चेतना को राम, अपने आचरण में उदार राष्ट्र चैतन्य बने खड़े है। कण-कण धरा का और क्षण-क्षण काल का उनके कर्म में उत्तरा है। लोक-कल्पान के लिए सौ सीता का भी परिधान करते हुए वे नहीं हिलकते। लोक-इच्छा उनके लिए सर्वोपरि है, उनका आराध्य है। हम आज इसी लोक की आराधना करें।

राष्ट्र ? स्वरूप ? साधना ! समस्या !

देश केवल राजनीतिक इकाई नहीं होना, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पक्ष इसके अस्तित्व का आधार होते हैं। राजनीतिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक पक्षों के समुच्चय से राष्ट्र का जीवमान अस्तित्व विकसित होता है। पर्वतों, नदियों और मैदानों से ही केवल देश नहीं बनते। देश बनते हैं, पावन भूमि में पत्नी परम्पराओं और मुनिप्रीकृत शासन-व्यवस्था के प्रतिकर से। देश भूमि का दुकड़ा मात्र नहीं यह एक विकासशील व्यक्तित्व है। भौगोलिक सीमाएँ इसके प्रसार का अंकुश करती हैं, सम्पन्नता जीवज संचालित करती है, परम्पराएँ शाब देती हैं, और भाषा उनका गुंजन करती है। प्राणतन्त्र होता है इसका मातृत्व, जिसके संरक्षण में फलते हैं एक रूप हो समस्त इसके बासी। 'मातासूक्ति, पुत्रोऽहं पृथिव्याः ॥'

राष्ट्र

भौगोलिक इकाई 'देश' जब अपने में, सांस्कृतिक इकाई 'राष्ट्र' एवं राजनीतिक इकाई 'राज्य' को स्वाभाविक रूप से समाविष्ट करती है और सीमाओं में कोई टकराव नहीं होता, तो यह देश का सर्वोत्तम चित्र होता है और वह चित्र है—

उत्तर यत् नमुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।

वर्षे तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥

पुत्र के कर्तव्य की धारणा ही तो राष्ट्र को सनातनता प्रदान करती है। जन्मभूमि पर मर मिटने वाले शहीदों के खून से ही तो राष्ट्र-धर्म की गहर प्रवर्धित रहती है और उसके कारण देश की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है। देश का अस्तित्व, जंगलों और पहाड़ों से नहीं, शहीदों के शौर्य से, बहिर्जनों के सतीत्य से और माताओं के श्याम से रहता है।

राज्य बदलते हैं, राष्ट्र अक्षय नहीं करते। सत्ता बचल जाती है; राष्ट्र के व्यक्तियों की निष्ठा नहीं खडलती। राष्ट्र और व्यक्ति का सम्बन्ध माँ और पुत्र का सम्बन्ध होता है जो पावनता के साथे में बँधा राष्ट्र को अमरता प्रदान करता है। राष्ट्र अपनी राजनीतिक परिवर्तनों के बीच से निकलता हुआ सर्वैव जीवित रहता है। अवस्थाएँ बदल सकती हैं, उत्थान और पतन हो सकते हैं। पूरे राजनीतिक जीवन में राज्य की अवस्थाओं का परिवर्तन चक्र चलता रहता है। पुरातन राष्ट्र

३० / माहिष्ट. समाज और भारतीयता

भारत में, राजनीतिक इकाई के रूप का पुनः विकास १९४७ में हुआ। विश्व के मानचित्र पर, यूद्धालस्था की प्रारंभ अमेरिका, नरणाधन्या को प्राप्त रूप में साक्ष्य ही उभरे हुए रूप की सामर्थ्य से, भारतीय अध्याय १९५० में उभरता हुआ।

स्वर्णयुग

साधनों में अग्रगण्य शक्ति में समर्थ और पावन परम्परा से युक्त भारत लक्ष्मी वाजपथी को भेज रहा है। साधनों की प्रचुरता के कारण ही 'मौन की विडम्बना' कहलाया। प्रकृति ने, उत्तर में हिमाद्रि, दक्षिण में पठार—सत्यादि—और दोनों के मध्य में सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र का मैदान, उपहारस्वरूप दिये हैं। यह मैदान ही विश्व की भोजन देने में समर्थ है। हिमाद्रि की देन इन मैदान में दश के ४५ प्रतिशत जन निवास करते हैं। भारत की नदियों में सबसे प्रवाहित अथाह अनराशि अपार अलविद्युत की सामर्थ्य (४११ लाख कि०वा०), अपुष्पाक्त की प्रचुर मात्रा के उप-सद्य (१४००० टन यूरेनियम + २० लाख टन थोरियम), पेट्रोलियम की सरासरी के नीचे बहती समी धारा (६०० करोड़ टन, देश की शक्ति का सबसे आधार होती है। विश्व की १५ प्रतिशत जनसंख्या और २० प्रतिशत पशु संख्या विश्व के २४ प्रतिशत क्षेत्रफल—भारत में निवास करती है। अनुमानत २१६० करोड़ टन कच्चा लोहा, ११ करोड़ टन मैंगनीज, १४ करोड़ टन क्रोमाइट, ११० करोड़ टन जिप्सम, ०३ करोड़ टन बक्साइट, ४७१७३ लाख टन शीता आदि के अन्तर्गत भारत में निहित हैं। फिर भी भारतीय निर्धन हैं। भारत पिछड़ा है। भारत भ्रष्टारी है। डॉ० बीर ने ठीक ही कहा है—

'भारत निर्धन लोगों में बसा एक धनो देश है।'

"India is a rich country inhabited by the poor" स्वर्णयुग जनता पर विपन्नता का स्वरूप शोषा नहीं देता। शोष की विडम्बना, जूयने के लिए, सिन्धु की धरती नितारे, लज्जा की बात है। राम और कृष्ण की धरती, हाथकर-हाथ धर कर बैठ जाय और भीख की रोटी पर पने ? कितनी बड़ी विडम्बना है ? विक्रमादित्य और अशोक का देश, मास्को और वाशिंगटन के अकेले पर, कठपुतली बन तुल्य करे, आश्चर्य नहीं तो क्या है ? राजा और भिख का शीर्ष मूल, गृह गोविन्द सिंह और हरीसिंह नन्वा की निष्ठा त्याग, गीतम और भाषी की साधना छोड़, कथयता के वृषभ में, विदेश शक्ति का शोष करे, उस नेतृत्व को संज्ञा कौन-की की जाय ? स्वामी विवेकानन्द का भ्रमरभण, देश को कहां ले जायेगा ? डॉ० हेडगेवार के शरीरदर्शन की उपेक्षा, समाज का कौन-सा चित्र प्रस्तुत करेगी ?

भारतीय संस्कृति के पावन मन्दिर में बैठ, भाषों के विभादों में उलझा, भारतीय, रोटी और कपड़े की भारतीय क्यों उतार रहा है ? भोजन—रोटी, कपड़ा

और मान—के लिए बीड़ने वाले, भूखे पशु-से, भ्रष्टचान्-विश्व-जमाज की भक्ति में बड़े मनुष्य के स्वव्यहार की अपेक्षा करना फिर कहीं का न्याय है ? पशु भी पशु है। घेर दा हो या चार। भूख की संस्कृति पशुता की संस्कृति है। हिमा, नयर्द, बर्ष विभाजन, अधिकान की विघटन उसी, उपज है।

वैशिक्य

भारतीय संस्कृति का पावन मंदिर, गी, गीता, गायत्री और गंग की गहरी नींव पर खड़ा है। ज्ञान, कर्म, धर्म और सम्बन्ध जिसकी मृदुल प्राचीन हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों की छत का संरक्षण जिसे प्राप्त है और मंदिर में विराजती है उस विराट की राजन प्रतिभा जो सत्य है, सुन्दर है और शिव है। इस विराट का उपासक, इस मंदिर की छाया में भोग का बिलारी कैसे बन सकता है ? सत्ता और सम्पदा उसकी धारादशा कैसे बन सकती है ?

प्रकृति की तुलिका में, विश्व की समग्रता, भारत की सीमाओं में समेट कर रख ही है। विश्व की भौतिकी भारत को आरसी में देखिए। वाकाश की जूमती हिमालय की ऊँचाई, पालक की सापती सागर की गहराई, उत्त तन-सा लपटा राजस्थान, हिम में शयता कौलाश; वृद्ध-वृद्ध जल के लिए तरपता अरावली और समस्त मेघ धारा में जहाता बगान, प्राचीनतम चट्टानों पर लोटता महााट्टि और नवीनतम चट्टानों पर उभरता साक्ष्यमाया, मोत्वर्य का घर कश्मीर और शौर्य की गाथा भेवाड, ज्ञान का मंदिर बग और कर्म की पगती लक्ष्य। अस्य के बन, बगाल का कावल, पंजाब का गेहूँ गुजरात की कपाम, बिहार का कोयला, कोलार का सोना। क्या नहीं है इस भारत में ? विश्व की प्रयोगशाला है यह ! तभी तो इसका दर्शन विश्व का दर्शन है।

साधना

निश्चय ही इसका लक्ष्य किसी एक वर्ग की सम्पन्नता का लक्ष्य नहीं हो सकता। इनका लक्ष्य भौतिकता-साधन-की उपलब्धि नहीं बन सकता। इसका लक्ष्य तो समग्र मानवता के लिए, सुख-आन्ति प्रशता, विराट् पुत्र की अनुभूति में समका लेश-भाव से, लचब, चन्दन और पूजन ही हो सकता है। यही नरानता है, यही साधना है।

साधना में भाषक, साधन और साध्य तीनों ही धरतु रेखा में आ, सफलता की निश्चित करते हैं। साधनों की उपासना में भटक जाने से साध्य की उपलब्धि कहाँ ? राष्ट्र की साधना के लिए भारत व्येष्ठतम धर्म की धरती है, कर्म की भूमि है समर्थ साधनों की सम्पन्नता है; प्रतीक के भावकों की प्रेरणा है, संस्कृति की

अमर चेतना है, कसौटी पर कसा हुआ दर्शन है और लक्ष्य स्पष्ट। फिर भटकाव कहाँ? असफलता क्यों?

भटकाव है साधक के मन में। असफलता है दिशा परिवर्तन में। साधक में मानव नहीं, इच्छाओं का पुञ्ज पशु बैठा है। दिशा साध्य की ओर नहीं साधनों की ओर मुड़ गयी है। साधनों की बहुलता और विभिन्नता ने, विभिन्न दिशाओं में मुख मोड़ दिये हैं। पथ एक नहीं अनेक बन गये हैं। फिर एकता कहाँ? एकात्मता कहाँ? व्यक्ति ही टूटा है तो समाज का पुरुष स्वस्थ कब? दुःख स्थिति

व्यक्ति के हृदय की विशालता सिक्कड़कर, स्वार्थ के क्षुद्र और क्षणिक पक्षों में बन्दी बन गयी है। मस्तिष्क की प्रखरता कल्याण की वाटिका छोड़, शोषण और उत्पीड़न के वीरानों में रम गयी है। आत्मा परमात्मा की साधना भूल मोह और ममता की शिकार बन गयी है। दोनों हाथों ममाज का शोषण कर व्यक्ति स्वार्थ का महल खड़ा कर रहा है। घट-घट व्यापी सर्वशक्तिमान भ्रष्टाचार की आरती, सचिवालय, विद्यालय, न्यायालय, देवालय, किस स्थान पर नहीं उतारी जा रही है।

'सत्य' शब्दों का आवरण ओढ़ पुस्तकों में छिप गया है। कभी काले कोट को ही अस्पृश्य समझ, सत्य उनके निकट नहीं जाता था। परन्तु आज इस अस्पृश्यता की सीमा ने तो, छाकी हो या धवल श्वेत सभी वस्तुओं को अपने में ढँक लिया है। मुनते हैं विश्व रंगमय है और व्यक्ति उस पर एक कलाकार। कहीं इसी अभिनय की पराकाष्ठा तो उसने प्राप्त नहीं कर ली है। मन में कुछ और है, कहता कुछ और है और करता कुछ और है। किन्तु सफल है अभिनय? सत्य कहने की सौम्य उठाकर, न्यायालय में गांधी के सिद्ध के सामने, असत्य को अपनी बाणी का स्पर्श दे सत्य में बदल देने की अद्भुत क्षमता है इस अभिनय कला के कुशल खिलाड़ी में और उससे भी अधिक कुशलता अजित कर ली है आज व्यापक पर बैठने वाले अस्तित्व ने। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से मुद्रित नजीरो के आधार पर अपना पत्रिका निर्णय देकर, विक्रमादित्य स्वर्ग से आशीर्वाद दे रहे होंगे? आपात्काल में कितने अधिकारी थे जिन्होंने सत्य आचरण का साहस किया? कितने विधायक, सासद और मन्त्री हैं जिन्होंने अपने निर्वाचन का सत्य व्यय-पत्रक दिया है? भूतों का सत्राट सत्य बोल्ने का उपदेश करे। परिणाम क्या होगा? सामने है।

अहिंसा चीखती हुई, अपनी रक्षा से लिए, दर-दर की कुण्डी खटखटा रही है। विधान सभा और संसद में खड़े घुसने का साहस नहीं होता। वहाँ पहले से ही उसकी सीत हिंसा विगलमान है। मुक्के और मादक से लेकर जूते और शष्पल तक उसने अपने अस्त्र धारण कर रखे हैं। विद्यालय में आज की युवा पीढ़ी,

हिंसा को प्रवेश दे अपने स्वाभिमान को धक्का नहीं लगाना चाहती ! तक्षणाई
 २। अंगड़ाई लेगी ही । उसके लिए न्यायालयों और देवालयों में भी अब 'प्रवेश
 निषेध' के पट लग गये हैं । बीहड़ों और भानों ने उसे पहले ही धक्का दे निकाल
 दिया । विवश हो भीतम और गांधी से प्रार्थना कर रही है कि उसे अपने पास
 ला लें ।

ब्रह्मचर्य का पाठ पुराना पढ़ गया है । ब्रह्मा की—सत्य की—खोज तो बहुत
 दूर भवेन्द्रिय सयम का पाठ व्यर्थ आज की जीवन व्यवस्था और परिवार नियोजन
 के साधनों ने ब्रह्मचर्य को सादर नमस्कार कर उसे विदाई दे दी है । जिसे साहस हो
 गावाज दे ।

चोरी सरकार बन गया है । दूकानों पर कर की चोरी है तो कार्यालयों में
 कर्म की : घर में सैकड़ों की चोरी है तो सत्ता में करोड़ों की । व्यक्ति की पोटनी
 चोरी जाती है तो समाज की—सामान—शकर में लकी ट्रेन का ही पता नहीं रहता ।
 विद्यार्थी परीक्षा में चोरी करता है तो शिक्षक अध्यापन में । साहित्यकार भी चोरी
 ३। मोर्चे पर पीछे नहीं हटता, शब्द नहीं, पक्ति नहीं, पूरी कविता ही पार कर देता
 ४। राजनीति में तो चोटी पर चढ़ने की सीढी ही अष्टाचार की बनी है ।

समस्त सभ्यता का स्वामी बन जाना चाहता है व्यक्ति । निर्धनो और अस-
 ५। हायों के रक्त में अपने महल की दीवारों जोड़ रहा है । जमींदारों का एक वर्ग समाप्त
 हुआ तो उससे अधिक खूँखार नये जमींदारों का वेश उदित हो गया । देश की पूँजी
 सिमट-सिमट कर कुछ हायों में बैठने लगी । कहीं लाख तो कहीं करोड़ ! अन्तर
 घन की मात्रा का है, संचय की वृत्ति का नहीं ।

भय का सर्वत्र साम्राज्य है । रात में भय है, दिन में भी भय । भक्षक से भय
 ६। रक्षक में भी भय । गैरों से भय, अपनी से भी भय । भाई को भाई से भय, माँ
 को बेटे के भय, बेटे को माँ से भय, पति को पत्नी से भय । भय परिवार की इकाई
 लेकर सत्ता की ऊँचाई तक आसीन हो गया ।

पवित्रता स्वप्न बन गयी । तन सैला मन सैला । कैसी स्वच्छता और कैसी
 पवित्रता । सचिवालय से लेकर बेबालय तक हर गली गन्दी और अपवित्र हूँ गन्दी ।

कुठा, आक्रोश, अविवेक, अशिष्टता और अन्याय अलंकार बन गये । कैसा
 ७। ये ? कैसी क्षमा ? स्वार्थ पूति के भाग में, जो भी अवरोध बन आया, ऋट उसे
 बिद किया । 'स्व' सिमट कर अपने में रह गया । 'स्व' देश, 'स्व' संस्कृति, 'स्व'
 भाषा की चिन्ता कौन करे, जब अपनी तिजोरी और अपनी कुर्मी के लिए, देश को
 दानवों की भोली में डाला जाय, अपनी संस्कृति छोड़ पश्चिमी संस्कृति के गीत

गाये जायें और 'स्म' भाषा हिन्दी को निलाजलि दे, उर्दू और अंग्रेजी को पदामीन किया जाय। 'बन्दे मानरम्' विष्मृत हो जाय, गम और कृष्ण के गीत अपराध बन जायें, रामा और शिवा की त्रयकार मीकचों में ले जाय, गुली-यली और गाँव-गाँव 'मम्मि', मैथा को निर्वासित कर दे और 'पापा', पिता को स्वर्ग भेज स्वर्ध गृह-स्वामी बन जाय, यह राष्ट्र का विनाश नहीं तो और क्या है ?

दायित्व निर्दाह का प्रश्न ही नहीं। कर्मचारी हो या अधिकारी, सामान्य जन हो या नेता, किसान हो या व्यापारी, बस उसे चाहिए अपना हित और अपनी मतुष्टि। ईमानदारी बन गयी है अनीत की राक्षा। वर्तमान में तो वह भूर्खता का पर्याय है। वेचालयो और बिछालयो में था उसका काम नहीं रहा।

व्यक्ति और समाज के लक्ष्य बदलने के साथ ही नियम और आदर्श बदल गये हैं। ईंट पत्थरों का सम्मान बढ़ा है, इन्सान को घसीट समाज से दूर फेंक दिया गया है। लंका.... वैश्वय—से रावण प्रजित है, खिन्नकृत के राम अकेले पड़े गये हैं।

निष्कर्ष

यह विश्वास, हमारी दिशा नहीं है, यह मार्ग, हमारा मार्ग नहीं है, यह लक्ष्य हमारा लक्ष्य नहीं है। व्यक्ति का पूर्ण विकास हो, समाज का स्वस्थ स्वरूप निखरे, विश्व को दिशा मिले, यह लक्ष्य है अपना। और जो इस लक्ष्य को प्राप्त कराये वही है भारी, वही है नीति। व्यक्ति को प्रेष्ठ धारणा जिनू गुणों में हो, समाज का उत्कर्ष जिन मूल्यों से हो, और विश्व का हित जिन आदर्शों से हो, वही गुण, वही मूल्य और वही आदर्श है हमारी नीति के। उन्हीं का पालन करना है नैतिकता।

राष्ट्र की धरती छिन जाये तो वापस आ सकती है। इजराइल नवियों बाद सम्मान में सीना तान खड़ा हो सकता है, नाधन नुट जायें तो भी श्रम और विवेक पुन राष्ट्र की शोनी सम्पन्नता से भर सकता है, जर्मनी और जापान ध्वंस होने के बाद भी घनाइयों के मिरमौर बन सकते हैं। परन्तु समाज की नैतिकता समाप्त हो जाय तो धरती और साधन नैतिकता नहीं जुटा सकते। नैतिकता का विनाश, व्यक्ति को पशु बना देता है, परिवार को तोड़ देता है, समाज को भ्रष्ट कर देता है और देश को नीलाम कर देता है। आज यही नैतिकता का संकट देश पर छाया है। इसलिए ईंट पत्थरों का निर्माण नहीं, इन्सानो का निर्माण करें, इन्सान बना तो देश बन जायेगा।

सरयू से गोमती तक-यात्रा एक रथ की

माँ धरती की गोद में लेटी सतत प्रवाहशीला सरयू, अवधपुरी से हुसकते राम की पैँजियों की रनभून में अपने को खी बैठी, दिव्य उठी, उनकी किलकारियों में और वेगवती बस वहीं थी विकास पर, 'उनक बहने चरणों के साथ । उमने राम का प्रगटन देखा वनपन देखा, पैँदन देखा और देखा माँ सीता के साथ मिथिला में आगमन । कभी अश्रुपुरित नयनों से देखा राक्षसों के वज्र के पश्चात् आते भीना समन राम का रथ । राम को राजा राम बनने देखा अयोध्या को वनते और जंगलते देखा वनते और उजड़ते देखा । सरयू ने अतिरिक्त कौन दूररा है माँसी, इस सतत साम्प्रतिक प्रवाह का, रामके रामत्व का, उनकी लीला का, जन-जन-में बसे भक्ति प्रवाह का ।

वर्षों से पढ़ी, उदात्त जिनकी प्रतीक्षा में है दृशिष्ठ नन्दिनी । नन्दिनी है क्या ? हाँ नन्दिनी है । प्रतीक्षा में है । भाग्य स्वतन्त्र हुआ, परन्तु स्वतन्त्रता की लहर सरयू तक न पहुँची । जिनकी रनभून में वह भूमी थी जिसकी किलकारियों में बस खिली थी, जिनके विकास में वह विकसी थी, जिनके चरणों ने 'उम यज्ञ दिया था वही उसके आराध्य 'राम' जन-जन के राम, हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के राम, जो आराध्य हैं, आजकल हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के हाथों उसके तट पर बन्दी हैं, सानो में कैद है । इस कैद के साथ सरयू की रवानी कैद है, सरयू की जिन्दगी कैद है मस्कृति बन्दी है । कौन करेगा मुक्त उसे । कब करेगा मुक्त उसे ? इसी की प्रतीक्षा है ।

लो, आ गया वह दिन । कभी राम 'माँ' सीता को मुक्त कराने चले थे । राक्षस रावण से मुक्त कराकर लाये थे । आज 'माँ' सीता मिथिला से चली हैं । राम जानकी रथ ६ अक्टूबर रात्रि ६ बजे, जब सरयू के ऊपर से गुजर रहा था तब सरयू का जल हिलोरे ले चरण छूने को लम्ब रहा था । एक अपूर्व ज्वार था एन्साह का । स्वागत का दृश्य वही था जैसे राम 'फिर सीता को मिथिला से ब्याह कर लाये हों । सरयू ने एक बार फिर 'माँ' सीता को मिथिला से आते देखा ।

अफवाहों के बावल बिन बरसे चले गये । सारा प्यार व्यर्थ हो गयी । गिरफ्तारियाँ होयी । पोलो चर्नेयी । कितने भरसे । एक भय, एक आशंक फैला, फैलाया गया, पर फल न पाया । पैँदन, साइकिल, मोटर साइकिल, ट्रैक्टर, बस, ट्रक ढोडे चले जा रहे थे अयोध्या की ओर गुजाते एक ही स्वर 'जोर से दोनो जन्मभूमि

सभी का ताला खोलो ।' देखते-ही-देखते सरयू के सिमटते हुए तट यात्री अजुलियाँ एक साथ डूबी थीं सरयू-जल में और होठ मन्त्र के उच्चारण में खुले थे-लगता था होठ नहीं, भाग्य के कपाट खुल रहे हों सूना आकाश मन्त्रों के स्वर से आपूरित हो गया था और पड गया था कम तभी, तो वह निकला था निनाव 'ताला खोलो' ताला खोलो ।

रामायण मेला मैदान में आयोजित श्रीराम-जन्मभूमि मुक्ति सकल्प यज्ञ इतना शान्तिपूर्ण और मर्यादित था कि इसने पूर्व तत्वादी और राजनीतिक उद्भवों को लेकर उड़ाई गयी अफवाहों को चकनाचूर कर दिया । मंच पर लगभग सभी धर्मचार्य उपस्थित थे । जयदगुह धर्म रामानन्दाचार्य की अध्यक्षता में संत-महत्तो में अवधेश जी (हरियाणा), अयोध्यादास जी (उड़ीसा), गोविन्द परमपथी (तमिलनाडु), नेत्रोमयानन्द जी (तमिलनाडु), जगदीश मुनि जी (पंजाब) नृत्य गोपल दाम जी (अयोध्या), परपोत्तम तीर्थ जी (केरल), भूमानन्द जी (केरल) स्वामी अहलाच जी (तमिलनाडु), स्वामी सर्वदानन्द जी (काशी) महन्त अवैधनाथ जी (गोरखपुर) आदि ने राम जन्म-भूमि को मुक्त कराने की प्रार्थना की । किसी भी राजनैतिक दल का कोई सदस्य मंच पर न था । पर दिशा एक थी । मन साहसो थे पर मन एक था । आयोजकों ने जितने लोगों के शामिल होने की अपेक्षा की थी, जुलूम में भीड़ उसमें तीन गुना अधिक हो गयी थी । केसरिया रंग में रंगी 'ओऽश' लिखित पताकाएँ हाथ में लिये लोग ज्यों ही आगे बढ़ते, नन्हे-नन्हे बच्चे फूल-मालाएँ लिये टूट पड़ते, फव मिष्ठान्न देते नहीं थकते, 'कुछ ले लो, थोड़ा ले लो' सभी कहते और देते जाते । २० मिनट से अधिक लग गया बंटारघर के चौक में । चाय पीना है, कुल्हड़ी से पड गयी थी सड़क, अटारियों से बरसती रंग-बिरंगी फूलों की पंखुडियाँ सतरसी आभा बिखेर रही थी । फैजाबाद के इतिहास में लोगों में उमंग और उत्साह का अनूठा माहौल देखने को मिला, कही "चढ़ी अटारिन्ह देखहि नारी" तो कही "लिए आरती मंगल धारी" "गार्वाहि गीत मनोहर ताजा" । कैसा आनन्द रस था । कैसा आनन्द था ।

न आति का प्रश्न था, न धर्म का, न पंथ की बात थी न सज्जहद की, न बर्ग की चिन्ता थी न दल की । सभी उमड़े थे । धर्म के इस मोर्चे पर, सब एक थे । काग्रेस (आई) के लोग थे, कम्युनिस्ट थे, लोक दल के थे । सनातनी थे । आर्य समाजी थे, हिन्दू थे, मुसलमान थे । स्वागत के लिए होड थी । कोई भी क्यों न हो राम प्रनाम कीन्ह सब काहूँ प्रनाम ही भी क्यों न । राम किसी सम्प्रदाय के नहीं राम किसी एक बर्ग के नहीं वह तो जन जन के राम हैं । राष्ट्र चैतन्य के साकार स्वरूप हैं और इसलिए "मुक्ति भये सहि लोचन लाहू" ।

केन्द्रीय रिजर्व पुलिस और पी० ए० नी० के जवान जगह-जगह पर भारी सख्या में तैनात थे और कुछ रथयात्रा के साथ चल रहे थे। यात्रा में किसी प्रकार की अशान्ति उत्पन्न नहीं हुई, अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हुई। सब एक रथ में पगे, भक्ति के उवार में बहे जा रहे थे बोलते "ताला खोलो"। यह भारतीय संस्कृति का प्रवाह था। पश्चात् राजनीति में पगा आधुनिक उदण्डता मरा नहीं 'बन्धुओं' भगि-नियो आज हम ईश्वर की भूमि में खड़े हैं। हमें लज्जा बानी चाहिए कि हमारे ईश्वर की जन्मभूमि खतरे में है। कह रहे थे महन्त अवैद्यनाथ, गोरखनाथ मंदिर के महन्त, श्रीराम जन्मभूमि मुक्त आन्दोलन के जन्मदाताओं में एक। खोले जा रहे थे बहू जन्मभूमि पर ताला हम सब हिन्दुओं की जन्मजात दासता का प्रतीक है। ये दग्धन पुकार-पुकार कर हमारे रक्त को और धीरतापूर्ण परम्परा को लज्जित कर रहे हैं। आकाश नारों से गूँज उठा था—

भुज उठाइ पन कीन्ह

नारों के साथ जयघोष था "बोलो मर्दाना पुरुषोत्तम राम की जय" पतित पावनी सीता भैया की "जय बजरम बली की जय" और सकल्प के लिए उठे थे सभी के एक साथ लाखों हाथ। कभी राक्षसों के वध के लिए राम ने भुज उठाई प्रण किया था, आज राम जन्मभूमि के मुक्ति लिए भक्तों ने भुज उठाकर सकल्प लिया।

स्वागत

फैजाबाद में राम-जानकी रथ यात्रा के स्वागत में १०१ स्वागत द्वार बनाये थे, सड़कों को सजाया था, फूलों को बिछाया था। स्वागत में खड़े थे सड़कों के दोनों ओर बाल बूढ़-तरुण, प्रौढ, नर-मारी और माताओं की गोद में किलकिले-उछलते शिशु। छज्जो पर थी माताएँ, बहनें, भरोखों से भ्राँक रही थी चमूगं, बरस रहे थे पुष्प भर-भर रही थी गध से भरी जल की धार। शख और घटा ध्वनि के बीच सड़कों पर लाखों चरण उठ रहे थे, एक साथ। अपार हिन्दू जन-समुदाय उमड़ पड़ा था। चरण लाखों थे वेग नहीं-जो दूकानें लूटता, बहनों को छेड़ता, ट्रेन से भाइयों को फेंकता, आग लगाता धड़ता चला जाता।

जयोध्या के इतिहास में १९४९ के बाद पहली बार इतना विशाल जन-जागरण देखने को मिला। युवकों की टोलियाँ जोर-जोर से जयकार लगा रही थी और बूढ़ों तथा महिनाओं को राम-जन्मभूमि के ताले के आगे झपनी सुध न थी। बस्ती जनपद से आया एक ७० वर्षीय वृद्ध जिस मस्ती में हुंकार करता हाथ फैलाकर वीर मुद्रा में, परन्तु सुध-बुध भूला, श्री राम जानकी को प्रणाम करके भीधा तीर-सा बीडता, देखते ही बचता था।

४६, अपनी धरती के आकाश गले

सोहाबत

फैजाबाद से चला हुआ रथ सोहाबत में अपने पड़ाव पर रुका। पता भी न चला, और पड़ाव आ गया। न थकावत, न चिन्ता। रात्रि में सबका शरीरान एक और एक साथ। न छोटा, न बड़ा। न छून, न अछूत। सब समान, सब एक। ईश्वर न देख—

दूर न कर काहूँ सन कोई,
राम प्रताप विषमता लोई।

सब परिवार-जन लग रहे थे। कितनी आत्मीयता थी—

सब नर करहिं यरहर प्रीती।

यह सब राम का प्रभाव था किसी का कुछ भी तो न खुला था, खुला था तो वह स्वयं सा गया था भगवान राम की भक्ति से।

अपार जन-समूह समझ पड़ा था राम-जानकी रथ के दर्शन के लिए। मन्त्र-मन्त्र हो श्रुता था भक्तों की। कौसा आश्वरथ या धर्मेश्वरी में बोल रहे थे स्वामी भूमनरथ जो और सब शांति आनन्द ले रहे थे रामवासी, अपनी भक्त भक्तों के बन्धन तोड़ हृदयों में छँसते जा रहे थे भाव्य व्यवधान ही न बनी बन्धन तोड़ हृदयों में छसते जा रहे थे, चापा व्यवधान ही न बनी। धन्य है राम की महिमा। प्रायः सब जिद्दाईं बने छोड़े थे आरती की धी और यात्रा के साथ लिपटे चले आ रहे थे। नोटने मन ही न हो रहा था। जो कुछ कवन, महिमार्थ धमनों, एकटक पूरित थी उनकी रथ की और, गये बह गये, राम बह गये। जब तक दृष्टि से रथ ओझल न हो जाता लोग लौटते न थे। कुछ तो खड़े ही रह जाते, मानो खो गये ही—रथ चला गया पर वे धर न गये।

सोहाबत और भेलमर के बीच जगह-जगह सड़क पर स्वागत-द्वार बने थे। जोसक के घोनों और गाँव-गाँव से आकर तुजारी लोग खड़े थे। खाली हाथ न थे। बना लेकर स्वागत के लिए रोड़े से, केलें, निस्कुट, बलागा, जड़डू ज्पा-ज्पा न बने और विज्ञान हो मिलते। भाग लगाने के लिए होड़-नी लगती। परताव लेने के लिए बन्धे न लेकर कुछे तक लग जाते।

उत्सम प्रसासन की व्यवस्था

डी० एम० एम० पी० और कमिश्नर की कारें व्यवस्था में दौड़ रही हैं। व्यवस्था स्वयं वज्ररंग वल के कार्यकर्ता सम्हाले हैं। विश्व हिन्दू परिषद के अग्रि-कारी साथ चल रहे हैं। राम जन्मभूमि मुक्ति यज्ञ के महामन्त्री श्री दाऊ इयाल खान, विश्व हिन्दू परिषद के मयुक्त महामन्त्री श्री अशोक श्री सिंहल साथ बैठे, निरीक्षण करते, उत्साह बढ़ाते चलते हैं। कोई अव्यवस्था का प्रश्न ही नहीं। फिर



भा पुनिस आगे-पीछे चल नहीं है और भक्तों में मिलकर भक्ति रस में डूब रही है—

मुनन तीर धामी नर नारी,
अथे निज निज काज बिसारी ॥

जो मुनना, जैसा भी होता बौद्ध बना आता। बच्चे बोझे आ रहे हैं, बधुएँ लाज मुलागे भारी आ रही हैं यहाँ। गाँव में गिथू थिये किस तराई में बढ़ती भा नहीं है। वृद्ध पीछे नहीं है, वे भी बौद्ध रहे हैं। सभी आरत आने वालों का ठाँव बना है पड़म दृष्टेया। लगता है राम-ज्ञानकी के भक्तों के जन-समुद्र में में छोटी-मोटी परित्राएँ देख से मिलने दौड़ी नहीं आ रही है। ग्राम के निरूद्ध पहुँचते हैं, जो लोग नीचे तीर-से धागे चले आते हैं—

ग्राम निकट जब निकसहि आई
देखहि दरसा नारि नर धाई ॥

भैलसर

यात्रा भैलसर पहुँच गयी। वही आनन्द, वही मस्ती, वही उमंग, वही ध्रुव। सहस्रो ने स्वागत किया पंचम मुना और द्वयरे दिन विदार्थ सी। चल दिव्य भिन्न-रिया की आर... यात्रा बढ़ती और धारी बढ़ते जाते। नारों का 'स्वर्ग' तेज हाँता, वजरंग बल के कार्यकर्ता और भी उत्साह में उद्यतते, जाते, झूमते, नाचते बढ़ते। प्रकृति मेघों का छाता लिये साध-साध भक्तों के चलती। न ध्रुव, न बरान, न वर्षा। महिलाएँ, बच्चे, बुद्ध सभी पैदल चले आ रहे हैं। बसों पर बैठने का नाम नहीं लेते। साक छोड़ कर बैठने में आनन्द कहाँ ?

साधु-सन्त

रथ के आगे-आगे चल रहे हैं साधु-मन। कोई शक बना रहा है, कोई घपटा। कहीं चौपाइयों की मूँज है तो कहीं भारी की। बौद्धता हुआ तरुण सम्भासी 'रक्षामी अक्षयज्ञानन्द' कभी गीषा, उत्तरी, खडाजो पर घूम रहा है, ललकार रहा है बचा रहा है—देखते रह जाते हैं लोग। कितनी भक्ति है उसमें, विजली-सी फुल्लों। कितना आकर्षण है, काट-सी नकड़।

सब अपने को झूले थे, बस रह गये थे रामभक्त पुलित के निपाही हों, या पौ० ए० सी० के ज्ञान अथ एक स्वर से बोल रहे थे 'ताला लोलो' 'ताला लोलो' क्या आनन्द था। लगता था धरती पर स्वर्ग उतर आया हो। क्या आनन्द था। लगता था धरती पर स्वर्ग उतर आया हो। अन्नपूर्णा स्वतः स्वागत में आ गयी हो। सभी तो घायी करता न, न, न और चिलाने वाले कहीं फल, कहीं मिठाल, कहीं रबड़ों, कहीं पूड़ी लिये जुटे हैं। भूषेगा नहीं वह। बनाकर

लाया था रखडी। कह रहा था—'मेरा कोई नहीं, है अपने हाथो रखडी बनाकर लाया हूँ। इसे तो खा लो, थोडा ले लो' और कार्यकर्ता कह रहे थे 'पेट में जगह नहीं बाबा।' पर हठ तो हठ था। थोडा-थोडा सधको खिला गया। राउक पर छिपे छडे थे खाई, चना, दताशा, पूटी, लड्डू, नहीं कुछ तो लेना ही होगा। लोग लेने और बंटने लगने थे—

जिन पावा राखा तिन नहूँ ॥

भिटरिया

रात्रि विश्राम भिटरिया में हुवा और दूसरे दिन चल दिये सफवरगज। राम-जानकी के रथ स्वागताथं लडे ग्रामीणो के कन्धो पर लटकते बच्चे और उनके सोतले बोल—“छिया बन लामचन्द की जै” भीड में छडे लोगो द्वारा जय-जय-कार, तथा घूँघट की ओट में अर्धै नचाकर निरखनी राम के रूप को ग्राम बधुओ की छवि को देखकर लमना था एक बार फिर राम की यात्रा साकार हो उठी हो। सवेरे से लोग सबको पर जम गये। जब स्वयं राम जानकी चले होंगे तो कैसा होगा? राम लोगो से इतना स्नेह करते थे कि लोग उनके आकर्षण में खिंचे जाते थे। पर इन यात्रा को देखने से लगा कि लोगो में इतना अनुराग है कि वे राम के रथ के आगे-पीछे उसे खींचते हुए चल रहे हैं। पहले राम अनुरागी थे, अब लोग अनुरागी हैं। यह बडा विलक्षण, परन्तु मागतिक लक्षण है। लोग पूछते थे कि एक बार राम ने यात्रा की थी तो लौटने पर सिंहासन पर बैठे थे इस बार लौटेंगे तो क्या होगा?

चितवत चले जाहि संग लागे

राम का सुन्दर रूप निरख, ग्रामवासी 'चितवत चले जाहि संग लागे'। चले जा रहे हैं कैसा लौटना। कुछ पूछ रहे है रथ कितनी दूर गया है, कहाँ तक पहुँचा होगा। आपस में 'मुनिसुरूप पूछहि अकुलाई, अब लागि गथे कहाँ लागि भाई' देखने की कैसी ललक है मन में।

छुआछूत लवलेस नहीं

सफवरगज मंडी में सब ठहर गये है। गाँव-गाँव से आये लोग भोजन खिचाने की होड में गये हैं। सब जा रहे हैं। समी का खा रहे हैं—

“जाति पाति पूछे नहि कोई, हरि का भजे सो हरि का होई।”

परन्तु वह कौन भिन्नक रहा है खिलाने में? पूछ रहा है, भाई क्या बात है? उत्तर देता है, 'हरिजन हूँ' पूडी बनाकर लाया हूँ। कहता हूँ उसे, भाई! सब हिन्दू हैं सब एक हैं। 'लाओ' जाओ और उसकी पूडी सबको बाँट देता हूँ। वह गद्गद हो जाता है, बाहर आये लोग भी विश्राम करते है, प्रवचन सुनते हैं।

बिदाई लेकर प्रातः न बजे चल किये हैं, रथ-यात्री, बाराबंकी। वही जयकार, वही ध्वनि, दर्शनार्थियों की उमड़ती मीड़। भक्तों का उत्साह। स्वागत-द्वार, पुष्प और मानाएँ। क्या नहीं उड़ेल देना चाहते हैं, इस क्षेत्र के वासी। द्वार भगवान् राम जो आये है। तो, ये तो दूध पिलाने में जुट गये हैं। पीना ही होगा। शुद्ध दूध। सभी को दूध। जितना पियो उतना दूध। देखकर कौन कह सकता है कि देश में दूध की नदियाँ नहीं बहतीं। यात्रियों का काफिला बढता है, घट्टालु साथ जुटते हैं, साइ-किलो से, ट्रैक्टरों से, मीड़ बढती चली जाती है। कौन है जो घर में रह जाना चाहता है। चारपाई पर उठायें लिये आ रहे हैं कैंसर के रोगी को। वह दर्शन के लिए व्यग्र हो रहा है। दर्शन कर लेता है फिर भी जाना नहीं चाहता—रूहता है श्वा, श्को, अभी नहीं, अभी नहीं।

भीलो फँसे है रथ-यात्री। चला नहीं जाता पर चले आ रहे हैं। वह देखो बूढ़े-से धीरे-धीरे दो तरुणों के साथ बढते आ रहे हैं। अरे, इतके पैरों में तो मोटी-मोटी पट्टियाँ बँधी हैं, छाने पड गये हैं, पर छाले भी बेचारे किसके पाले पड़े हैं। भला कुछ बिगाड पार्येंगे, भला रोक पार्येंगे। यह हैं भ्रातृ के अवकाशप्राप्त जज साहब। मानने वाले नहीं। चलेंगे। बस पर बैठेंगे नही साथ में वो कार्यकर्ता लगा लिये हैं।

पुरुष ही नहीं महिलाएँ भी जिही हैं। पैदल ही बढेंगी। कही कामपुर का झुण्ड है तथा कहीं भ्रातृ का जय्या। कहीं बनगरम की बहनें हैं तो कही महीबा की। चल रही है। शान्त? नहीं, जयकार लगाती हुई। वह देखो सड़क पर कोई लुडक गयी है। 'ओम्' की झुण्डो हाथ में फहरा रही है। चलते-चलते थक गयी-चला नहीं गया, लुडक गयी। निकट जाने हैं, प्रार्थना करते हैं कि बस में बैठ लो। नहीं, नहीं। बैठेंगी नहीं। दो कार्यकर्ता साथ कर देते हैं और बहन फिर चलने लगती हैं।

बाराबंकी

बाराबंकी आ गया है। एक-एक पग बढ़ता कठिन है, इस जन-समुद्र में। इस स्वागत में, चलना दूभर है। मजे हुए स्वागत-द्वार पुष्प बरसाती बोनों ओर से भीन्ड, छनों से बरसते फूल, सुगन्धित जल की फिरती बौछारें, चन्दन के लगते टीके, हाथ-हाथ में दिये जाते फल, मिण्डास और रेवडी के पैकेट-कैमे निकाना जा सकता है। यह शोभा न कभी देखी, न सुनी।

सभी स्थल पर लाखों का समूह। हर गली, हर मड़क भक्तों से भरी-उमड़नी चली आ रही है, मिलने जन-सागर में।

अब भी जिसका लून न खोला, लून नहीं बह पानी है।

मातृ-भ्रमि के काम न आये, वह बेकार जवानो है ॥

जोश मे जवान बोले जा रहे हैं । मच ने महन्त अवेद्यनाथजी व श्री अशोक जी सिंहल के अजेस्वी भावपूर्ण भाषण जनमानस को आन्दोलित कर रहे हैं । एक बंग है जो लफन कर लखनऊ की सबको पर छा जाना चाहता है । चाहता है कहना मुखमन्त्री से 'नारायण की दी हुई काया नारायण के काम लगे, मत्ता की माया मे न फँसे, मंदिर का द्वार खुले, देश का भाग खुले ।'

चिनहट

रात्रि विश्राम के पश्चात् रथ-यात्रा मुठी चिनहट की ओर । भावभीनी विदाई के साथ हज़ारों श्रद्धालुओं को अपने साथ समेटती, यह विशाल यात्रा बढ चली अपने गन्तव्य की ओर । रथ के आगे मन्तोच्चारण तथा खंखनाद के साथ भारें प्रशस्त करने चले जा रहे हैं ये नैजस्वी कामा वाले धर्मगुरु और सन्त । प्रारम्भ से ही सतर्क यात्रा के साथ-साथ व्यवस्था सम्हालने दौड़ते रहे हैं कार से श्री भावे जी, कमी लागे, कभी पीछे मोटर साइकिल पर सावधानी से, यात्रा के साथ चल रहे हैं बजरंग दल के मयोजक श्री विनयजी कटियार । पद-यात्रियों के साथ-ही-साथ अयोध्या मे पैदल चलते चले आ रहे हैं, सुख-सुविधा की चिन्ता लिये कार्यकर्ताओं की, श्री निहाल जी । सुध-सुध भूष बैठे हैं ये भक्त । बस एक ही लगन है । एक ही रटन है, एक ही मन है 'ताला खोलो', 'ताला खोलो' वह देखो मेरुजा चस्त्रधारी तरुण लडखडा रटा है । फिर भी चिन्ता नहीं है बढता जा रहा है ।

चिनहट आ गया है । लखनऊ का जनपद । जिलाधीश श्री रमेश नारायण जी त्रिवेदी दिखाई दे रहे हैं । एम० पी० महोदय व्यवस्था देख रहे हैं । स्वागत मे क्षेत्र की जनता उमड रही है । 'हर हर महादेव', 'जय बजरंग बली' गुंजता कहीं वच्चो का, कहीं जवानो का, कहीं बूढ़ो का, मसूह चलता चला आ रहा है । मन्ना-स्थल पर सब पहुँच गये हैं । महन्त अवेद्यनाथजी, स्वामी भूमानन्दजी आदि सन्तों का प्रवचन हो रहा है । भका और मस्त वह तरुण सन्यासी अरुणानन्द ब्रेहोश हा गया । इतना दौडा था, खंडाऊँ पहने टलटा-सीधा पुगे यात्रा के साथ, इनका बोनो घा यात्रा पर, अब जैसे डुक गया हू । तत्काल लखनऊ भेजा गया है । सब ठीक होगा ।

14 अक्टूबर प्रात काळ लक्ष्मणपुरी से प्रवेश कर लिया है । चिनहट से लेकर लक्ष्मणपुरी तक भक्तों का ताँता लगा है । सबक भरी चल रही है । कोई स्थल रिक्त नहीं । कितनी माइकिलें हैं कितनी मोटर माइकिलें हैं, कितने ट्रैक्टर हैं, कितनी जीपें हैं, कारें हैं गिनो मत दौड़ने दो । 5 घंटे लग गये हैं चलते-चलते चिनहट से लक्ष्मणपुरी तक । कल्पना कीजिये कितनी भीड होगी ।

मुसलमानों ने भी स्वागत-द्वार सजाये

लक्ष्मणपुरी में 300 स्वागत-द्वार सजाये गये हैं। मुसलमानों ने भी स्वागत-द्वार बनाये हैं। स्वागत किया है। उन देशद्रोहियों को मुंहताड़ जवाब दिया जिन्होंने अफवाह फैलाई थी कि दंगा होगा, हिमा फेंगेगी, कथरू लगेगा। उन्हें पता नहीं ये राम के भक्त हैं, राक्षस भक्त नहीं। सुन्दर व्यवस्था की गयी है। घर-घर से लाखों पैकेट भोजन के आ चुके हैं। इमों के ठहाने की व्यवस्था रेजीडेन्सी, उच्च न्यायालय, स्टैंडियम, विश्वविद्यालय आदि के निकट की गयी है। भ्रम और योग्य व्यवस्था। शासन की दंग रह गया है देखकर जिसे।

रामभक्तों की अपार भीड़ उमड़ी तो नगर की सड़ियों की सुपित नडको को लगा कि एक आह्लादकारी उत्थेनः सर्वव्यापी बाढ आ गयी है। इन्दिरा नगर से निष्ठातर्ज, हजरतगंज से होकर, बेगम हजरत महल पार्क की ओर जाने वाली सड़कें इस तृपा मृति की लुप्री से खिलखिला रही थी। राम-जानकी रथ आगे-आगे जुलूस में एक रथ चल रहा था जिस पर श्रीराम की वेशभूषा में मजा एक बालक बोनो हाथों में हथकड़ियाँ पहने, श्रीराम के बन्दी होने का भाव व्यक्त कर रहा था। एक व्यक्ति हनुमान् की वेश-भूषा में गदा नित्ये चल रहा था। पूरा लखनऊ स्वागत में उमड़ पड़ा था।

नगर के सभी मोहल्ले इस अभूतपूर्व दृश्य को देखने लौट पड़े थे। मटक का चप्पा-चप्पा भरा था। रथ-यात्रियों पर बरसाई गयी फूल की फस्कुडियाँ हवा में नैर रही थी। 'अ' लिखित केसरिया रंग में रंगी हमारो पटाकारे फहरा रही थी। पेशदर्य के गुमान में डूबे हुए हजरतमंज ने देखा कि चाँदी की कुमियों पर डोलने वाले बड़े-बड़े मठादीर्ष श्रीराम के नाम पर सडाळें खटखटाने और कुछ नये पाँव चले आ रहे हैं। लगता था, जहाँ राम का आगमन होता है, वहाँ सब आजाते हैं। भेद भिद जाता है। भोले ग्रामीण श्रद्धालु यात्रियों की पद-रज पुडियों में बाँध कर रखते। गवरी गाँव में तो एक 95 वर्षीय वृद्ध यात्रा की देखकर इतना भावुक हो गया कि तिलकाने हुए नाचने लगा।

उमिला वाटिका

बेगम हजरत महल पार्क में, जिसे सन्ही ने उमिला वाटिका कहा, सभा अहोखी और अभूतपूर्व थी। लाखों की सख्या में श्रद्धालु स्त्री, पुरुष, बच्चे हर मार्ग से नदियों की तरह उमड़ते हुए मझा के जन-समुद्र में विनीन होने का रहे थे। समा होने तक लक्ष्मण पार्क मकबरा पार्क, हनुमान् सेतु तक खचाखच भरे थे। वृद्धों

१२] साहित्य, समाज और भारतीयता

सब छतों पर लोग बैठे थे। एक कोने में बन्दर जमा हो गये थे, जिनमें सब रघुपति की ही सेवा बता रहे थे। कई बन्दरों के गले में लाल फीते थे। कई जवम कद भोमवस्त्रियाँ जलाई गयी थीं।

श्री राम-जानकी रथ के आगमन पर, नगर से प्रकाशित 'शहूवे नौ' उड़ूँ अखबार ने हिन्दी में अपना सम्पादकीय निकाला था। लंका काण्ड का उद्घरण देते हुए उसने लिखा कि जिस विशाल समुदाय के साथ ऐसा प्रतिभासम्पन्न रहा है उसे परास्त करने वाला विश्व में पैदा ही नहीं हुआ।

श्रीरथ लक्ष्मण की नगरी

श्रीरथ लक्ष्मण जी की नगरी में, उमड़ते हुए जन-समुद्र ने एक स्वर से "जन्मभूमि मुक्त करो" का आह्वान किया। जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री सिद्ध रामाचार्य काशी पीठ की अध्यक्षता में सभा हुई। श्री अशोक सिन्हा ने मुख्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसका समर्थन परमहंस श्री रामचन्द्र दास ने किया। अनिति के मंत्री श्री वज्रपाल जी खन्ना ने पवित्र देवस्थानों पर धर्म, मस्जिदें मुगल शासकों की निष्ठुरता, निर्दयता तथा असाहिष्णुता और हिन्दू धर्म और समाज के ऊपर क्रूर आक्रमण के रूप में बताया। निवर्तमान पुलिस महानिदेशक श्री श्रीगणेश दीक्षित ने स्वागतार्थक के रूप में सभी का स्वागत किया। स्वामी भूमानन्द जी ने मुसलमानों से माँग की कि वे हिन्दुओं को तीर्थस्थान सौंप कर मौहम्मद द्विजातों।

इतनी अनुशासन, इतनी विशाल, इतनी प्रभावी भीड़ लक्ष्मण ने कभी नहीं देखी थी। सरयू उमड़ कर गोमती के गले आ जगी थी। कैसा मिलन था—काश सत्ता इसे समझ पाती, नेता इसे समझ पाते.....।

राष्ट्र चैतन्य-राम

राजनीति की रेखाएँ राष्ट्र नहीं बना देती, भौतिक सीमाएँ राष्ट्र नहीं खड़ा करती, राष्ट्र तो स्वयं अस्तित्व के घरा पर उतरने है। करोड़ों जिसके कर हैं, करोड़ों जिसके चरण हैं, करोड़ों जिसके नेत्र हैं, परन्तु कुनि एक है, गति एक है, दृष्टि एक है। कण-कण में एक ही स्पन्दन है। एक ही जीवन है।

राजनीति की रेखाएँ राष्ट्र नहीं बना देती, भौतिक सीमाएँ राष्ट्र नहीं खड़ा करती, राष्ट्र तो स्वयं अस्तित्व के घरा पर उतरते हैं। उनकी अपनी काया है, अपना चैतन्य है, अपनी प्रकृति है और अपना है जीवन। रेखाएँ तो, राजनीति की, राष्ट्र बनाती हैं। आण बना, कल टूटा। सीमाएँ तो, पर्वतों की, सागरों की, देश बनाती हैं। वसा, बसा, न बसा। राष्ट्र जीवन्त स्वरूप है। चैतन्य शक्ति है। व्यक्ति विकास की पवित्र ओर पूर्ण इकाई है। एक विराट् पुरुष। करोड़ों जिसके कर हैं, करोड़ों जिसके चरण हैं, करोड़ों जिसके नेत्र हैं, परन्तु कृति एक है, गति एक है, दृष्टि एक है। कण-कण में एक ही स्पन्दन है। एक ही जीवन है।

'चैतन्य' रहा, तो राष्ट्र है। 'चैतन्य' गया तो राष्ट्र गया। यह धरती, ये पर्वत, ये नदियाँ, ये पठार और मैदान, उसे रोक नहीं पाते। यह धन, यह शीलत, यह राज और यह शासन उसे बाम नहीं पाते। व्यक्ति रहते हैं, परन्तु राष्ट्र चला जाता है। मिला करे कौन मिटने से रोक सका? रोम की जाने से कौन रोक सका? धरती है परन्तु वह नहीं जिसे मिला कहें, रोम कहे।

'चैतन्य' जाते ही 'स्व' अचिन्त्य शक्ति चली जाती है। इसीलिए तो 'चैतन्य' की रक्षा चाहिए। धरती छिन जाय तो पीरुष वापस ला सकता है। सम्पदा चली जाय, तो कर्म श्रम ने भोजी भर सकता है। परन्तु 'चैतन्य' चला गया तो न पीरुष ला सकता है, न कर्म वापस कर सकता है और न धरती उसे ला सकती है। यहूदियों की धरती छिनी तो यहूदियों के पीरुष ने इजरायल बसा दिया। जापान की भग्नावा नष्ट हुई, जर्मनी की सम्पदा गयी, तो जापान ने पुनः अपने पत्तों से जापान खड़ा कर दिया, जर्मनी ने अपने श्रम से जर्मनी बना दिया, परन्तु मिला न बन सका रोम न खड़ा हो सका। धरती और धन पर नहीं। जब चैतन्य पर आक्रमण होता है, तो राष्ट्र भगमगाता है। धरत ने ये आक्रमण कहे हैं। अपनी शक्ति

से आक्रमण स्वस्त किये हैं। सत्ता गयी है 'स्वरव' नहीं गया। सत्ता हारी है, समाज नहीं हारा। अकबर और औरंगजेब का शासन। सड़के पर, मन्दिरों पर आदलों पर, मूल्यों पर, पद्धतियों पर, व्यवस्थाओं पर, सर्वत्र प्रहार, सर्भी पर प्रहार। परन्तु बाहर समाज, चैतन्य की ज्वालि से आगे बढ़ा बिटाये न मिटा। तुलसी राष्ट्र का चैतन्य जगा उठा, गुह गोविन्दभिन् राम राम गा उठा, किष्कि पत्ताका से निकला तो राजा अपनी माया ने पत्थरों को भी सिहरा उठा। चैतन्य को लहर गाँव-गाँव गूनी-गूनी दीड गये। अरेरा का जन्म। पुन आक्रमण। शोषण आक्रमण, चैतन्य पर। बापा पर, सूपा पर, बित्तन पर, आचरण पर, गुरु पर, आदर्श पर सुनि-योनित विदेशी आक्रमण। परन्तु प्रतिकार आक्रमण से भी कहीं अधिक सशक्त। अरेरा का मन्त। नार्दी जी का मन्त बना 'रघुपति' रामव राजा राम। गाँवो जी का मन्त बना 'राम-राज'। राष्ट्र चैतन्य जगा उठा। जिन तुलसी ने जगाया, गुह गोविन्दभिन् ने जगाया, उसे गाँवो जी भी जगा उठे। बहो तो है राष्ट्र चैतन्य का समुद्र स्वरूप। राष्ट्र की पूर्ण और पवित्र अस्मिता। राष्ट्र वैशिष्ट्य का उच्चतम चिह्न।

राष्ट्र-भारत एक अद्वय मन्दिर है। विश्व का सम्पूर्ण वैशिष्ट्य समेटे, उसका प्रतिनिधित्व करती हुई, पूर्ण और पवित्र इकाई भारत की धरती, धरती पर अनादि काल से पुण्यवत् रहता चला जाया समाज, धरती और समाज के मूलत सघात से विकसित उसकी संस्कृति और धरती, धरती पर समाज तथा उसकी संस्कृति के संरक्षण, सर्वजन तथा पोषण के लिए, व्यवस्था, राष्ट्र मन्दिर को नींव है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की दृढ पाँची हैं। जिसके बल पर निर्भर है व्यक्ति और समाज की धारणा, उनका पोषण उनका विकास और उनकी उपलब्धि। ज्ञान, कर्म, शील और समन्वय के सुदृढ खम्भों पर यह मन्दिर टिका है। गायत्री, गीता, गी और गंगा, सभी तो यहाँ पूज्य हैं। प्राचीनों और खम्भों पर छत-सा व्यक्ति का विकास छाया है। उसका शरीर, उसका मन्तित्व, उसका हृदय और उसकी आस्था, चारों सीमाएँ हैं। इस विकास की छत पर, मूलत साधना के दण्ड पर सधा है लहराता परम सुख का ध्वज। विद्यमान है मन्दिर के अन्दर विराट का देवता और स्थित है उसमें चैतन्य, राष्ट्र का। यह चैतन्य राष्ट्र के प्रकाश को विश्व सर से प्रकीर्ण करता है। राष्ट्र कहलाता है भारत। भ = प्रकाश, आ = पूर्ण, र = देना, कैलाना, विकीर्ण करता, त = तट, द्वर-द्वर तक। विश्व को पूर्ण प्रकाश देने वाला, भारत।

भारत : एक अद्वय मन्दिर

राष्ट्र चैतन्य का सशक्त और समग्र प्रकटन हुआ है जिनके आचरण में, वह है—राम। इसकी धरती उनके लिए माँ है, वह स्वर्ग से भी प्यारी है। उसकी

व्यवस्था के लिए, कैलाश से लेकर कन्याकुमारी तक, उनके चरण चले हैं। उनके हाथों व्यवस्था आयी है। वेम के बिन्दु हुए बस की, एकता के सूत्र म उन्होंने बाँधा है। छोटी को ब्यार दिया है, बड़ा को प्रजा दी है और आराध्य की भक्ति की है। प्यार, श्रद्धा और भक्ति के सम्बन्धों में समाज की कौशा है। उनका मन एक किया है, उसका जीवन एक किया है उसकी दिशा एक की है। अर्थ-विन्नत में, अपने राज्सी में, अपने आचरण से, मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं को, पक्षियों को, पापियों को भी मुसंस्कृत किया है। व्यक्ति, समाज और राज्य की व्यवस्था ही है। धर्मोपारिण व्यवस्था। स्वयं सचानित व्यवस्था।

धर्म का ही वह साक्षात् स्वरूप है। मनुष्यत्व का आवली ले लड़े है। मयिहा की वह मोमा है। व्यक्ति धर्म, समाज धर्म और राष्ट्र धर्म तीनों ही उनके आचरण में हिमरात्रि के शिखर-से घोषित हैं। अर्थ को अर्थ की गन्दी मली से निकाल, मुक्त और शान्ति के समर्थ पथ पर वह लाये हैं। मोने की लका जती है, सोने की बमोष्ठा नहीं। अयोध्या नहीं युद्ध नहीं, अवध जहाँ बध नहीं। शान्ति और सुख है। कामनाओं की मोड़ी पर चढ़ परम वैभव और परम सुख तक पहुँचना, उनके समाज का रूप है। मोल की उपलब्धि उनके पथ पर है। ज्ञान के वह सृष्टे है, गीत के वह सागर है, कर्म क वह शिखर है और समन्वय की पावन सरिता है। किसको वह बोध नहीं देते, किसको वह शस्त्र नहीं लगाने, किस कर्तव्य के लिए वह नहीं दौड़ते और किसको मिलाने के लिए वह नहीं मचलते।

यों भारत उनकी कान्या में व्यक्त है। युव ने माँ का ही स्वरूप है। यहाँ की धरती, यहाँ का जल, यहाँ का शाकाय, यहाँ का तेज और यहाँ का पवन उनके अंग-अंग में बसा है। हिमरात्रि और सहायि, रंगा और गोदावरी, कैलाश और कन्याकुमारी, उनके जीवन में बँडे हैं। अनीत की गहराई उनके चरणों ने मापी है, भविष्य को जँचाई उनके हाथों ने छुनी है और वर्तमान उनके कर्म से निखरा है। काल और वेद-राष्ट्र के-दोनों ही उनके जीवन में बोलते हैं। उनकी शासना का पथ परम सुख का पथ है।

प्रत्येक कामना करना है, पुत्र चाहिये राम-मा। प्रत्येक राहता है, भाई चाहिये राम-मा। प्रत्येक इच्छा करता है, मित्र चाहिये राम-मा। प्रत्येक प्रार्थना करता है, राजा चाहिये राम-मा। शत्रु भी चाहता है कि शत्रु मिले राम-मा। जितके आचरण में कटराण-ही-कल्याण है। यह वैशिष्ट्य राम का, राष्ट्र का वैशिष्ट्य है। माँ का गुण, पुत्र में पला है। जिमादि ने उच्चता दी है, सागर ने विशालता दी है, सम्पन्नता ने उबारता दी है, विभिन्नता ने समन्वय की दिशा दी है समसवा के व्यक्तित्व की पूर्णता दी है, भेष ने कल्या, गौ ने शीघ्र, तो रंगा म कर्म को पावन

डगर दी है। एक-एक गुण, इस धरती ने दिया है। राम जिसे ले, भारत के चेतन्य के सगुण स्वरूप बने हैं। वह राष्ट्र-पुरुष हैं, राष्ट्र-देवता हैं, राष्ट्र-प्राण हैं।

आज, हम देश की अखण्डता के लिए उन्हीं का आराधन करें। राष्ट्र की एकता के लिए उन्हीं के पथ का अनुसरण करें। सुख, शान्ति और व्यग्रस्था के लिए उन्हीं के चरण-चिह्नो पर चलें। भोक्तन्त्र के लिए लोक-आराध्य राम का आदर्श स्वीकारें। समाजवाद के लिए, समाजहित पूर्ण समर्पित, राम का जीवन देखें। भारत के लिए लिंकन और लेनिन का पथ नहीं, राम का ही पथ है। भारत के स्वभाव का पथ है। जिसे छोड़ते ही ध्वंस है और जिस पर चलते ही निर्माण। वैसे हम निर्माण करें। अपनी धरती पर, अपने आकाश तले, अपने पथ पर चलें। अपना चेतन्य जाग्रत करें। गाँव-गाँव, नगर-नगर गुँजने लगे—

चन्दन है इस देश की माटी,

तपोभूमि हर ग्राम है।

हर बाला देवी की प्रतिमा,

बच्चा बच्चा राम है।।



पहाड़ों और मैदानों से देश नहीं बनता, देश कल और कारखानों से नहीं बनता, देश बनता है शहीदों के रक्त से, भाइयों के शीश से, बहनों के सिंगूर से। शहीदों ने अपने खून का खाद से, देश को, आजादी की फसल दी है। इसकी रक्षा भी हमें अपना खून देकर करना है।

सृजन के धरातल पर—

‘आनन्दमयी अभिव्यक्ति की धारा’

धरती पर आने ही ‘रूदन’ शिशु की पहली प्रतिक्रिया है और माँ की गोद में स्तन्यपान उसकी प्रथम मुखानुभूति। रोना और मुस्कराना ही उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। सुख के प्रति आकर्षण और दुःख के प्रति विकर्षण उसका स्वभाव है। सुखद अनुभूति देने वाले हाथों को प्राप्त कराने की उसमें कामना है। दुःख देने वाली वस्तुओं की छाया भी उसे प्रिय नहीं।

प्रकृति के पालने में ज्ञान के चरण चलते हैं। बोध का विकास होता है। शव मस्तिष्क की चहारदीवारी में बन्दी नहीं रहते। अभिव्यक्ति चाहते हैं। शिशु माँ को देख गोद के लिए भचन उठता है मित्र मित्र को देख स्वागत के लिए दौड़ पड़ता है, शत्रु शत्रु को देख क्रोध में उबल पड़ता है। भावना आभ को अपेक्षित दिशा में रंग, क्रिया के लिए प्रेरित करती है।

आत्माभिव्यक्ति मानव प्रकृति है। यह उसकी प्रवृत्ति है। अपने को प्रकाशित किये बिना वह नहीं रह सकता। हर्ष में हँसने और विषाद में रोने से कौन रोकेगा उसे? यह उसकी अपनी पूँजी है, जिसे वह समाज के मामने बिलेर देना चाहता है। वह भी, एक क्षण के लिए नहीं, सदैव-सदैव के लिए। इसलिए अभिव्यक्ति को स्थायित्व चाहिये और स्थायित्व प्रदान करने की शक्ति है ‘शब्द’ में। जिसका, वाणी, सदैव से विधान करती आयी है।

‘नृत्य’ साहित्य का प्राण है। साहित्यकार की अनुभूति ही उसकी अभिव्यक्ति का आधार है। जिसके प्रति वह मगन सचेत है। अनुभूति का ज्ञापन ही तो उसका धर्म है। जिसे वह छोड़ नहीं सकता, प्रलोभन जिसे मोड़ नहीं सकता, भय जिसे तोड़ नहीं सकता। स्वान्त सुखाय, उमड़ती हुई, वह तो वेगवती आनन्द की पावन धारा है, जो प्रलोभन और आतंक के अवरोधों से और भी अधिक गतिवान् हो, स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित भंडन को लीच लोक सामान्य भावभूमि पर, जा ढहरती है।

प्रभाव और विकृति के आवरण, समाज में व्याप्त ‘सत्य’ की कवि की आँखों से ओझल नहीं कर सकते। व्यक्ति की समर्थ दृष्टि अपने समाज के स्वभाव को

पकड़ लेनी है। भारत के म्बच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल, उजोत्सनामय तपीवनी ने भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किये थे, उनकी भूलक हमें उपनिषद् साहित्य में मिलती है। प्रत्येक समाज के साहित्य का अपना व्यक्तित्व होना है। परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, राज्यों की उजड़-फेंग और विचारों के मधुप के कारण, वह धूमिल हो सकता है, दब सकता है किन्तु नम्र वाकर फिर प्रकाशित होता है, उभरता है।

मानव और समाज के मन्य की अभिव्यक्ति संश्लेषी होती है। वह समाज की सजीवनी शक्ति होती है। अभिव्यक्ति की दिशा होती है, वर्तमान का आधार होती है और अतीत की पावन धरोहर बनती है। नम्र समाज का और समाज के घटक व्यक्ति का हित निश्चित रहता है। सतत आनन्द का मोत इनमें छिपा है। साहित्यकार इस अभिव्यक्ति को अनकारों में मगाने-मँवारते आये हैं, इसे मनाकरना प्रदान करने आये हैं। जहाँ द्विन और मनाहरता दोनों आ जायें वही मन्साहित्य की सृष्टि हो जाती है—हित मनोहारि व दुलभ वच' (किरातार्जुनीय)। साहित्य ईमी दुर्लभ को मुलभ बनाता है।

कवि मन्य की धारा को, सौन्दर्य की डगर में, समाज हित के लिए, हृदय की मुक्तानवस्था तक पहुँचता है जहाँ अवगाहन कर पाठक आनन्द-रस में डूब जाता है। उनीतिग तो काव्य समाज जीवन धारा की आनन्दमयी अभिव्यक्ति है।

साहित्यकार शून्य में वाम नहीं ...करता। नमराज की मोद से पलता है। सुख की लहरियों पर तिरता है, दुःख के थपेड़ों को सहता है। समाज के अन्य व्यक्तियों की भाँति ही, वह भी अपनी सुख-दुःख की पूँजी रखता है। अभाव की पीडा उसे भी मलाती है, प्रभाव की मस्ती उसे भी आती है दुःख और सुख समाज में मझी को एक-सा है, परन्तु समाज जहाँ उसे मौन हो सझता है, साहित्यकार उसे अपने स्वर देता है, मजद देता है। कवि की पुकार समाज की पुकार होनी है। वह समाज का प्रतिनिधि होता है। सामाजिक जीवन उसके शब्दों में मुखरित होने उठता है। मच्चे अर्थों में वह ममात्र का मुल है।

आज का मंवार विचारों का ममार है। परिवर्तन विचारों के झोड में पलता है। वर्तमान का असन्तोष विचारों के बीज से उगा है। दूसरों की उन्नत अवस्था से, हमारी हीन अवस्था की तुलना कर, साहित्य समाज में क्रांति की ज्वाला धप्रकाता है। फ्रांस की राजक्रान्ति बोचतेर और रूसी के विचारों ने ही जन्मी थी। जर्मनी के हिटलर द्वारा महाभागर का आह्वान, नीत्सो आदि के विचारों का ही परिणाम था। बंकिम ब्राहू का 'वन्दे मातरम्' भारत के दीवानों का वेद मप्र बन गया था। फ्राँसी का फन्दा चूमता हुआ कण्ठ 'वन्दे मातरम्' का ही गान करता था।

हमारा साहित्य हमको एक संस्कृति और एक जातीयता के सूत्र में बाँधता है। रामानुजन को, केरल में घर-घर गायी जाने वाली, कन्नड रामायण हो या मद्रास प्रदेश में सर्वत्र प्रशंसित कम्बन की तमिल में लिखी रामायण, महर्षि वाल्मीकि की रामायण हो या तुलसी रचित ‘रामचरित मानस’ सभी एक स्वर से आदर्श राम के चरित्र का गान करती हैं। शान और समन्वय के गीत गाती हैं, धर्म पर सत् को विजय प्रशंसित करती हैं। भाषा कोई भी हो भाव एक है, लेखक कोई भी हो, दिग्ग एक है। समाज की आत्मा साहित्य में मुद्रित होती है जो सर्वत्र एक-सी प्रकट होती है। चाहे ‘अकिञ्च वाचु का जगत्ता में ‘वन्दे मानसम्’ हो या ‘प्रभाव’ का हिन्दी में ‘जगण यह भूमय देश हमारा’, सन इकबाल का उर्दू में, ‘मारे जहाँ में जख्खा हिन्दोगता हमारा’ हो या अफेजी में सरोजिनी नायडू का अरने लिए चदेश ‘येट मस्ट आई गो अरेयर इ लाउड वन्डे देकम्’—

Yet must I go where the loud world beckons—

सभी में एक ही भावना है देशभक्ति की। साहित्य में व्यक्त, यही एकता और एकात्मता के सूत्र समाज को इकाई में बाँधे रहते हैं।

समाज की एकता में भी ऊपर उठकर साहित्य में मानवता की गूँज है। काव्य कवि के हृदय का इतना प्रसार करता है कि मारा विश्व उसके भीतर समा जाता है। वह विश्व हृदय हो जाता है। समय और क्षेत्र की सीमाएँ टूट जाती हैं; आचार्य शुक्ल के शब्दों में—

“कविता ही हृदय को प्रकृत रसा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका मन अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-मत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।”

कवि ब्रह्मा से बढकर है। उसकी रचना बंधनों से मुक्त है। काव्य में आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है, बाह्य सामग्री का आश्रय और बंधन नहीं रहता।

नियतिक्रतनियमरहितता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्रताम्।

नव-रस रुचिरा निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।—काव्यप्रकाश

कवि जहाँ संसार में विरोध, बैषम्य और प्रतिकूलता देखता है वहाँ वह अपनी कल्पना में अपने आदर्शों के अनुकूल ढलने का प्रयास करता है। इसीलिए उसे प्रजापति कहा गया है। उसकी रचि के अनुकूल उसकी सृष्टि बनती है—

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ —अग्नि पुराण

काव्य मनोविकारों को परिष्कृत कर हृदय को लोक-मंगल को भावना में भर देना है। मानव की विरोधी बृत्तियाँ समन्वय के रूप में बँधती हैं। बाह्य अणु और अन्तर्जगत् में विरोध मिटता है। शील का विकास होता है। हृदय बुद्धि की अँगुली पकड़, उसे कर्म के क्षेत्र में उतारती है, बुद्धि भावुक हृदय के स्वरूप पर अकुल लगा मर्यादा का अवगुठन देती है और कर्म, बुद्धि तथा हृदय में समन्वय स्थापित कर लोक-मंगल की धारणा करता है।

तभी तो तुलसी ने जीवनोपयोगी काव्य को सार्थक कहा है—

‘कीरति भनिति भूति भलि मोई, सुरमरि सम सब कहँ हित होई।’

आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि में एक स्थल पर लिखा है—

“मन को अनुरंजित करना, उसे मुख और शान्ति पहुँचाना ही यदि कवि का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी एक विलास की सामग्री हो जायेगी।

साहित्य नृजन के प्ररातल पर, आनन्दमयी अभिव्यक्ति की वह पावन सुर सरि है, जिसमें अवगाहन करते ही, मानव हृदय स्वार्थ के सकुचित मण्डल से निकल, कल्याण के बृहत् क्षेत्रों में प्रवेश करता है, जहाँ आनन्द-ही-आमन्व है।

जन-चेतना के वाहक प्रेमचन्द

मानव प्रस्तर-प्रतिमा नहीं। जीवमान इकाई है। भस्तिक में जिसके चिन्तन है, हृदय में भावना है और आत्मा में है उस परम की खोज। दृष्टि उसकी इती शिक्षा में लगी है। चरण भक्तिवान है और कर कर्म में लीन। यही तो जीवन है।

मात्र स्वार्थ लेना ही जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है। विषम घटानों को लोड़ती हुई, जो समष्टि को आत्मीय भाव से जीवन देती हुई, जीवन कर्म के समापन पर, सागर में गले जा लगती है। सभी तो भावन है, सभी तो पावन है और सभी है पूज्य।

हमने इस भागीरथी की उपासना की है। हमने इसे पूजा है। कभी राम के स्वरूप में, तो कभी कृष्ण की काया में, कभी गौतम में, तो कभी गांधी में। इसमें विराट् का दर्शन है। समष्टि का समावेश है, संश्लेषण और समन्वय का संज्ञ है, संगठन का तंत्र है।

यही तो है चेतना का मत्त्व। चेतना एक पक्षीय नहीं होती। चेतना का स्वभाव ही है सब ओर फैलना। उसके कोई पीठ नहीं, सब उसके सम्मुख है। समाज अभी के विकास का फल है। स्वभाव के अनुकूल चेतना दृजन करती है और स्वभाव के प्रतिकूल विच्छेद। अहं से संचालित चेतना विनाशवाहिनी है और कल्याण से प्लावित वह भृष्टिदायिनी।

चेतना वाहक 'समाज' की प्रकृति अपनी धरती की गोद में बनती और विगडती है। भारत की धरती कर्म की धरती है, धर्म की धरती है। निर्माण यहाँ का स्वर है। दान यहाँ का स्वभाव। भारतीय चेतना की धारा इसीलिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'बभूवैव कुटुम्बकम्' गुणगुणाली हुई पेड़-पौधों और पाषाणों के भी चरण पूजनी चलती है।

वैयक्तिक चेतना का बूँद-बूँद जन-चेतना की सरिता का स्वरूप ढालता है। जिसमें समाज अवभाह्न कर, संस्कृति भस्मिदर में, अपने विराट् का पूजन करता है। जन-चेतना की सरिता के जल में सर्वत्र गुण समान है। सर्वत्र कल्याणप्रव है।

आदि काल से, अपना वैशिष्ट्य लिये, जन-चेतना, वाणी वाहन पर चलती आयी है। कहीं विराम नहीं, कहीं भटकाव नहीं। विराम ही तो मृत्यु है। जिसकी गोद में मिस्र और रोम समा गये। भटकाव ही तो विध्वंस है जिसके शिकार न

जाने कितने देश बने। भारतीय जन-चेतना अबाध गति से, पापाणो को तोड़ना, चाटियो को लाँघनी तुफानो से लड़ती चलती चली जा रही है। हो भी क्यों न उसे बाहक जो मिले है, सू-से, तुलसी-से, राय धनपत-से।

नूर ने जीवन को सरसता दी, तुलसी ने आदर्श और प्रेमचन्द ने ब्याध-अनुसृति। जन-चेतना के सागर में पैठ, गहराई से गोताखोर की भाँति यदि नूर जीवन प्रसून खोज लाये, तुलसी ने अतल गहराइयो से आदर्श के मोती ला दिये तो कृष्ण भाविक की भाँति प्रबल भ्रंशावात में प्रेमचन्द प्रत्येक विपत्ति के बादल को समझते हुए समाज नौका को स्वतन्त्रता की देहरी पर ला टिकाने में समर्थ हुए।

प्रेमचन्द ने गीत नहीं सुनगुनाये, जनता की पीर जनता की भाषा में रोई है, जनता का आकाश जनता के स्वरो में दिया है, जन-जागरण की ज्योति, जनता की ली में फूटी है।

आदर्श उनके कल्पना-लोक से नहीं उतरे, धरती की गोद से उठे हैं पात्र हृदयिण अनीन से नहीं, वर्तमान में उभरे हैं। 'सूर' हो या 'होरी', 'धनिया' हो या 'मलिया' वर्तमान की भापड़ी में बैठे हैं, अपने समय के खलिहान में खड़े हैं।

चिन्तन और मनन नहीं, मसग का स्पर्श, अपना नहीं समाज का स्वर ही प्रेमचन्द की साधना है। गिणु 'रुपिया' में लेकर बूढ़ 'हारी' तक, शमीण 'धनिया' से लेकर नागरी 'मालती' तक, हृदिजन 'मधुआ' से लेकर, पंडित दातादीन तक, श्रमिक 'गोबर' से लेकर मिल बालिक 'स्वशा' और पत्रकार 'ओकारताप' से लेकर दार्शनिक 'मेहता' तक, सभी समान रूप से प्रेमचन्द के अपने हैं और उन्हें अपनी पैनी लेखनी से साहित्यकार ने अमर कर दिया है। मानव तो मानव, जन चेतना से संस्पृशित भी और बाल तक प्रेमचन्द की दृष्टि से ओझल नहीं हो सके। कितनी व्यापक थी उनकी महानुभूति, कितना विकसित था उनका मानव पक्ष।

व्यक्ति के प्रति निर्भय होना कभी सीमा नहीं। व्यक्ति के स्वार्थ को, उसके लिप्ता का, अहं को, उधेड़ कर रख देते हैं, परन्तु उससे घृणा नहीं करते। चाहते हैं अपने को समझे, सुधारें। मानव के प्रति घृणा के लिए इस मानवतावादी लेखक के पास अवकाश नहीं ?

'मधुआ' और 'धीसू' को, अकर्मण्यता का शिकार, विकृतियों का बन्दी चित्रित करते परन्तु घृणा नहीं करते, चाहते हैं कि दुधिया की कर्म-प्रेरणा उन्हें भी प्राप्त हो। अकर्मण्यता के अभिषाप से निकाल, जीवन को कर्म के बरदान तक लाना उनका ध्येय है। चेतना की यही प्रकृति है, अकर्मण्यता तो उसकी विकृति है। पश्चिमी सभ्यता की कुरूपताओं और सभ्यतावादी संस्कारों से युक्त 'गोदान' की

‘मालती’ रोमाण्टिक होते हुए भी कर्म और सुधार की चेतना से पूर्ण है। ‘होरी’ कही भी कर्म से पलायन नहीं करता।

समन्वय भारतीय जन का वैशिष्ट्य है, सघर्ष परस्पर का विकार। प्रेमचन्द का साहित्यकार इस दिशा में सजग है और कितना संयत। फूस की भोपड़ी से लेकर अट्टालिका तक छिपी विकृतियों को बाहर ला फेंकने हैं, फिर चाहे ‘मधुशा’ हो या ‘खल्ला’ म्याय की तुला पर कोई छूटता नहीं। एक अकर्मण्यता का शिकार है तो हमारा स्वार्थ का। हरिजन से लेकर पण्डित तक प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि में बजते नहीं। ‘दानाखीन’ का पावपण्ड हो या ‘घोसू’ का मछपान, प्रेमचन्द उसे चित्रित करते हैं। गुण कहीं भी हो, गुण है। मेहनत का चिन्तन यदि संस्कार-क्षम है तो ‘होरी’ का कर्म-सन्देश कहीं कम नहीं। नगर में यदि जागरण के स्वर हैं तो ग्रामों में कर्म का धरातल। ‘गोदान’ में ‘पहाड़ी लडकी’ कर्मठता, सेवा और समर्पण में नगर की ‘माधनी’ से नहीं आगे है, और ‘मालती’ चिन्तन में समाज को दिशा देने में समर्थ।

‘दो बैलें’ की कहानी हो या बच्चों की कहानी ‘ईदगाढ़’, चाहे ‘पूमकी रात’ से अपने कुत्ते के साथ काँपना, आग तापता और झींझकता ‘हल्कू’ किसान हो, या कफन के पैसों पर शराब पीकर नाचते हुए बाप-बेटों का पान, चाहे दीर्घवानु, सघपरत ‘टोरी’ का निरुपाय दान हो, चाहे आन्ध्रदेश की अग्नि में मन्द-मन्द जलती हुई ‘निर्मला’ सर्वत्र पट्टनी मानवीय दया की अनुभूति होती है, जो प्रेमचन्द की अपनी है।

स्वान्धय आन्दोलन के जन-स्वर, प्रेमचन्द की लेखनी से सतत मूँज है। ‘दुलाई वाली’ में बग-भंग विरोधी आन्दोलन, ‘बालकीता’ में हरिविलास का नौकरी छोड़ असहयोग आन्दोलन, ‘जुलूस’ में वधोद्वेष्ट सत्याग्रही इत्राहीम के बरोगे द्वारा घोड़ से कुचले जाने पर, असहयोग का जन-ज्वार, ‘जेल’ में मृदुला को गिरफ्तारी पर नारी-जागरण, ‘कर्मभूमि’ में बन्दाकार का प्रतिशोध आदि इसी दिशा के बोधक हैं।

प्रेमचन्द जनता के स्वर को पहचानने थे। जनता सुतन्त्र चाहती है, स्व-तन्त्र चाहती है, आज का पैसे से संचालित चुनाव तन्त्र नहीं। ‘गोदान’ में खुर्शीद कहता है मेरा वश चने तो मैं कौन्सिलो में आग लगा दूँ। जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज है, पुगाव में बही बाजी भाँ ले जाता है, जिसके पान रुपये हैं।”

भारतीय समाज की आधारशिला पर प्रेमचन्द का साहित्यकार खड़ा है। विश्वास जिसका लक्ष्य है, श्रद्धा जिसका स्वभाव है, आस्था जिसकी इंग्र है और

६५ / साहित्य, समाज और भारतीयता

ईश्वर जिसका पड़ाव। 'ज्ञानशंकर' कह उठता है "प्रेमशंकर का दोष नहीं ज्ञानशंकर का दोष नहीं, सब मेरी प्रारब्ध की कूट बीजा है।" 'गादान' की 'मालती' कह उठती है "मेहता ईश्वर के लिए अब आगे भक्त जाया, नहीं मैं पानी में कूद पड़ूंगी" उस संकट में मालती को ईश्वर घाय थाया, जिसका वह मजाक करती थी।

होरी की आस्था है कि "गऊ दरवाजे की छोभा है।" 'मालती' की यज्ञा अज्ञा में समाप्त होती है, जहाँ वह प्रकाश में नक्षत्र-मी नजर आती है, अपने को मिटा डालती है और मिटाने को ही अपना जीवन समझती है।

निर्माण में, नीच को नहीं धूला जाता। जितनी गहरी नीच होगी, निर्माण भी उतना ही महान् होगा। अतीत की गहराइयों में वर्तमान की नीच है, स्वर्णिम भविष्य का भवन इसी नीच पर खड़ा होगा। प्रेमचन्द की धारणा थी कि यदि सामाजिक मूल्यों को छोड़कर परिवर्तन आता है तो वह निश्चार होगा। उन्होंने भारतीय परिवार में पनपे बन्दुत्व प्रेम, त्याग, सहयोग आदि मूल्यों का वरण किया गहरी कथाकारों की भाँति प्रेमचन्द परिवार नहीं तोड़ते, परिवार के प्रागे जोड़ते हैं। होरी भाई हीरा के लिए क्या नहीं करता ?

'मेहता' भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहते हैं "अगर हमारी देविदाँ सृष्टि और पालन के देव मन्दिरों से हिंसा और कलह के दानव क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उनसे समाज का कल्याण न होगा।"

भारतीय सस्कृति अर्थ प्रघन सस्कृति नहीं, अर्थ यहाँ का सर्वस्व नहीं साध्य नहीं, कर्म का साधन है, आधार है। 'अर्थ को साध्य' के स्थान में दूर फँकत हुए मेहता कह उठते हैं, "धन मेरे लिये बढ़ने और फूलने वाली चीज नहीं, केवल साधन है।"

प्रेमचन्द की दृष्टि में सोहाग नारी का सर्वस्व है। मिलिया समर्पण करती है। क्रुनियाँ विपत्तियों को झेलती है और धनियाँ विपन्नता के अथाह सागर में सोहाग को ही, सागर पार करने के लिए, वह तृण समझती है जो उसका है और उस पर उसे विश्वास है। नारी की धारणा-भाज प्रेमचन्द के पात्रों की धारणा नहीं, यह तो जन-चेतना की धारणा है।

समाज की समस्याओं को मुलरित करते हैं प्रेमचन्द, जो जन-जन के मन में अरो है। विधवा विवाह पर भोला द्वारा आपत्ति किये जाने पर मोदान का होनी नलकरता है, "तुम अब बूढ़े हो गये हो भोला। पर आज भी तुम्हें सगाई की धुन सवार है, फिर वह तो अभी बच्चा है।"

जाति-दथा पर प्रहार करते हुए 'किंगुरी' बोल पड़ता है, "मैं तो खुल्लम खुल्ला कहता हूँ, इसमें छिपाने की कोई बात नहीं स्त्री जानि पवित्र है।" दहेज-प्रथा पर कितना नाहसिक प्रहार है साहित्यकार का, नराना के मुँह से "मैं तो सोनारी जातों में बड़ा हूँ अगर तुममें एक पैसा भी दहेज में लिया, तो मैं तुमसे क्या कहूँगा।"

राजनीति और ऐसे के प्रभाव को घिबघारने हुए प्रेमचन्द के पात्र कहते हैं— "हममें आदमियत कहीं, अःशुभियत वह है जिममें पात छन है, अस्तियार है, उल्म है। हम लोग तो वील है।"— किंगुरी के लिए काभून और न्याय उसका है जिसके पास पैसा है।

प्रेमचन्द के सभी पात्र अपनी धरती पर खड़े हैं, उनके नाम, उनके वेश, उनकी भाषा, उनके सस्कार अपने हैं। भारत के कथरकार की भाँति नहीं, कि नाम भारत का और दर्शन विदेश का।

उनके साहित्य में, समस्त देश का जीवन, समस्त मानवता का जीवन, एक विशाल समुद्र की तरह उठेलित होकर आगे बढ़ता हुआ दिखाई देता है। वह नैराश्रय के भीतर से प्रकाश का, दुःख और दारिद्र्य के भीतर से अपराज्येय पीरप, साहस तथा शक्ति का भदेश देते हैं। सामूहिक जीवन के वह अद्वितीय चिह्नरे हैं।

भारतीय जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं रहा है जो प्रेमचन्द की दृष्टि से ओझल हो। राजनीति के स्तर पर जिस प्रकार गाँधी ने पथ प्रदर्शित किया, साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से प्रेमचन्द ने वही प्रकाश हमें प्रदान किया, सम्पूर्ण भारतीय जन-चेतना उनकी सम्बल लेखनी पर बैठ यात्रा करती है।

मानव विकास के लिए राजपथ भूगोल

सूर्य का तेज और सामर्थ्य ले धरती जन्मी और जीवन-पथ पर चरण रखती आगे बढ़ी। समय के साथ स्वरूप में निखार आया, धरती में उभार आया और रस आनन्द-स्रिता बच बहू चला। यौवन सौन्दर्य पर मचल उठा। रंग-रंग के पुष्पों से श्रृंगार किया, उमने। सागर ने चरण पखारे, मलयानिल ने विजय डुलाया और नीले आकाश ने चाँद-मितारी ने धारती उतारी। सौन्दर्य और यौवन अपनी मार्थकता के लिए व्यग्र हो उठा और तभी धरा मार्थक हुई, अपनी गोद में ले शिशु को। शिशु ने 'माँ' कह धरा को पुकारा और धरा ने 'पुत्र' कह शिशु को मँभाल लिया—

माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्याः ।

व्याम में चहूँनहाते हुए पक्षियों में, जलराशि पर तैरते हुए मछलियों के झुंडों में, वन में बढ़ावते हुए मिहों में, मैदानों में कुनोंचें भगने हुए हिरनों में, और सबके ऊपर बुद्धि से शासन करने वाले मनुष्यों में, 'माँ' धरती ने अपनी अनित का तेज, अपने वायु का वेग, आकाश का व्याप, जल का तारल्य और रस का सबल आधार भर दिया। 'माँ' का ही अस्तित्व पृथ्वी में व्यक्त हुआ। वही तत्त्व-रचना के आधार बने।

(क्षिति जल पावक गगन सरीरा ।

पंचतत्त्व यह रचित सरीरा ॥)

विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होने वाले धरा के अंग अनेक हैं, परन्तु सभी मिलकर धरा एक हैं, अंगों पर चलने वाले व्यक्ति-समूह विभिन्न और अनेक हैं परन्तु हैं सब एक। मानव और उनकी जीवन-धारा अलग-अलग होने हुए भी हैं एक-दूसरे की पूरक। सम्पूर्ण धरती एक कुटुम्ब है।

वसुधैव कुटुम्बकम् ।

धरती का ज्ञान जगती के समुध्यों को, एक कुटुम्ब की अनुभूति करा देता है एक देश की समस्या का निदान, दूसरे देश की धरती करती है। भारत की कपास जापान के वस्त्र उद्योग की समस्या का निदान है और अरब का तेल भारत की समस्या का निदान। सहकार और सहानुभूति ही, विभिन्न देशों की समस्याओं का निदान है। यह भौगोलिक आवश्यकता है और इसका ज्ञान है, वसुधैव कुटुम्बकम् का सफल अन्वय।

विराज सम्भावना के लिए सही दृष्टिकोण, सही तथ्यों को आधार मानकर, अन्य कोई भी नहीं रख सकता। आज के तनावपूर्ण जगत् में यह और भी अधिक महत्वपूर्ण है। भूगोल के सहारे छात्रों में एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण पोषित किया जा सकता है।

प्रत्येक भौगोलिक इकाई, देश, में वहाँ का धरातल, वहाँ की मिट्टी, वहाँ की जनबाहु, वहाँ की वनस्पति, वहाँ का खनिज एक विशिष्ट स्वभाव विकसित करता है, जिसे वहाँ पर रहने वाला समाज अपने जीवन में उतार, राष्ट्र वैशिष्ट्य का रूप देता है। भारत की प्रकृति ने समन्वय का, शील का, कर्म का ज्ञान का, सातत्य का, जो रूप निरखता है, उनी का लेकर भारतीय, विश्व में निर ऊँचा किये खडा है। इस स्वभाव को, जिन पात्रों ने सर्वोत्तम अभिनीति किया, उन्हें हमने पुण्योत्तम श्री नहीं, भगवान् कह पूजा है। वही हमारे आदर्श हैं—राम, कृष्ण, गौतम, गांधी “। इसी अभिनय को करने का ह्य प्रयास करें। यही हमारा अभिनय है। लेनिन और लिंकन हम नहीं हो सकते। लिंकन और लेनिन ह्य वरों तो भारत भारत नहीं होमा—हो जायेगा अमेरिका और रूस।

अपनी धरती पर व्यक्ति को, अपनी धरती की गच्छ लेनी होगी, अपने आकाश क तले विचरना होगा, अपनी हवा में साँस लेनी होगी और अपने ही स्वरो को पुनगुनाना होगा। अपने गीत होने, अपने स्वर। अपनी धरती होगी, अपना आकाश। भूगोल इसी को तो मानव के कानों में फूँकता है, समीपस्थ वातावरण व निक जीवन की घटनाओं में सचि पैदा करता है। संसार और उसके परिवर्तन-शील वातावरण तथा वातावरण और मनुष्य के परस्पर सम्बन्ध को जानकारी देता ८। मनुष्य इसी वातावरण के अनुरूप अपने को ढालता है। नियतिवादी दृष्टि (Determinism) जहाँ वातावरण के अनुकूल व्यक्ति की बनने के लिए विवश करती है और सम्भववादी दृष्टि (Possibilism) प्रकृति पर अकृण लगा उस पर शासन करने को कहती है, वहीं समन्वय की सुतरकृण धारा फूट पडती है। हम वातावरण के अनुरूप ढलते भी हैं और वातावरण को ढालते भी हैं। भूगोल इसी विकास का चरण धरता हुआ बढता है।

यही पथ, मानव विकास का पथ है। ऐसा राजपथ, जहाँ टकराव नहीं, जहाँ भटकाव नहीं, सभी अपनी दिशा की ओर बढते जाते हैं और उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। सभी महल भाव से स्वभावानुकूल चलते जाते हैं और पहुँचते हैं अपने गन्तव्य पर।

आज का विश्व, भूगोल के ही चरणो चलकर यहाँ तक पहुँचा है। भूगोल के अतिरिक्त कोई भी विधय नहीं जो स्वाभाविक रूप से और आवश्यक रूप से आज की विश्व समस्याओं पर प्रकाश डाल सके। इसलिए सामान्य शिक्षा के लिए,

६८ स हिन्दू समाज और भारतीयता

इतना महत्त्वपूर्ण कोई विषय नहीं है जितना भूगोल। आधुनिक सभ्यता और सभ्यता का विकास भूगोल के व्यापक ज्ञान में ही निहित है। पशु जीवन से उठकर मानव जीवन के श्रेष्ठ स्तर तक आने के लिए, भूगोल की दृष्टि से ज़मी, व्यक्ति को धरातल, जलवायु, वनस्पति आदि से पूर्ण पर्यावरण का ज्ञान कराया और उसके क्षय-प्रशान्त के मार्ग प्रशस्त किये। भौगोलिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करते हुए, उनका स्वामी बन जाने का, उसने सफल प्रयास किया और इसीलिए तो वह चाँद-सितारों पर बैठा है, आकाश में उड़ा है, सागर पर तैरा है।

भूगोल ही तो है, जो वर्षित गलावरणों को ज़मारे सामने साकार कर देता है।

वातावरण ही क्यों नाहित्य की भाँड़ा भी तो भूगोल के मोँचे से ही निकली है। इसीलिए तो भाषा का उच्चारण ही या व्यक्ति भौगोलिक पर्यावरण की ज्ञापक लिये है। हिन्दी का 'अ' ही या 'इ', 'क' ही या 'ज' सञ्जन वृक्ष—आम, अमरुद इमली—का ही स्वरूप प्रकट करेगा और उर्दू का बलिफ 'र' ही या बे 'रे' ही या 'रे'। कुबले-मलले खजूर के वृक्ष का ही रूप नामने लाकर जड़ा करेगा।

उच्चारण में भारतीय भाषाएँ यदि कोयल की, तोते की, गाय की, भुग की मंर की बोलियों को व्यक्त करेंगी तो अरब और ईरान की भाषाएँ जँट की बोली की।

भूगोल की गोद में पधने वाली संस्कृति, 'भू' की पवित्र और निरङ्कुल आत्मा को प्रकट करती है तथा साहित्य उसका गान करता है।

'घाट' का जीवन ही या 'दीहा' का, नागा' का रहन-सहन ही या 'भील' का, भूगोल की आँख से देखिये सब स्पष्ट हो जायगा—उसका कारण और उसका स्वरूप। बंगाली मछली खाता है और चावल, पंजाबी गेहूँ खाता है और दूध, बिहारी आम लेता है और कश्मीरी सेब। क्यों? भूगोल से पूछिये और वह सन्तुष्ट करेगा। बंगाली के केश लम्बे और लुभावने, कंधे सुष्ठ हैं और मुड़ील, आँखें काली हैं और गोल, राजस्थानी लम्बे हैं और स्वस्थ, नेत्र खंचल हैं और वीधे, जानना है तो जाइये भूगोलवेत्ता के पास और वह समझा देगा। वह बता देगा कि बंगाल में बुद्धि और मानवाद्य में शीघ्र क्यों निवास करता है?

युद्ध के मोर्चे पर भूगोल ही सच्चा मार्गदर्शक है। वही कहता है कि युद्ध कहाँ होगा? स्पष्ट बोधना की है भूगोलवेत्ता ने 'कश्मीर संकट का क्षेत्र है।' 'कब्ज भारत की सुरक्षा की कुञ्जी है।' 'बंगाल विपत्ति का घर है।' हिन्दू महाभाग पर सभी की दृष्टि है। रणक्षेत्र के धरातलीय ज्ञान से लेकर, उसके उपयोगी-अनुपयोगी होने के साथ ही उसके रक्षण और उसके माध्यम से आक्रमण का सधस्त ज्ञान, भूगोल के योग्य ज्ञान से ही सम्भव है। मोचिये, अगस्त 'हृषि ने, युद्ध का संवाहन कहाँ से बैठकर किया, सोचिये, कृष्ण द्वारका के घोष बने, राजवती ने मोस्ताना पर

हमना किया पाक ने कच्छ पर आक्रमण किया। क्यों? स्पष्ट है कच्छ भारत की सुरक्षा की कुञ्जी है।

व्यवस्था करनी है राज्य की तो केन्द्र कहाँ हो? राजधानी कहाँ बन? बलावेण भूगोल का ज्ञान, किस स्थान पर बैठकर नमस्त क्षेत्र पर दृष्टि रखी जा सकती है, किस स्थान में गरमला और ग्रीष्मता से क्षेत्र के सभी स्तरों पर पहुँचा जा सकता है और किस स्थान को आक्रमण के समय सर्वाधिक सुरक्षित रखा जा सकता है। स्पष्ट करेगा भूगोल कि 'दोस्तानावाद' नहीं दिखनी ही राजधानी होनी चाहिये। स्पष्ट करेगा भूगोल कि प्रदेशों का अलग राजनीति को रखाएँ वहाँ भौगोलिक इकाई को सीमाएँ करें। लन्काग्र वर रहेगा कि 'कश्मीर बचाओ' कश्मीर पर शासन के अर्थ है, भारत पर शासन और भारत पर शासन के अर्थ है विश्व पर शासन। इन्के ही चाट कहेगा यह कि राजनीतिक दृष्टियों को भौगोलिक सीमाएँ समान कर देती है, अन्वाभाविक इकाई राज्यों को एक दिन स्वाभाविक इकाई देश की गेब ने सीमा पड़ना है। प्राकृतिक अस्वाभाविक इकाई है और उनका समाप्त होना निश्चित है। अल्पकाल ध्यान ही स्वाभाविक पृथे इकाई है।

जनसंख्या का ब्याज कहाँ, कितना और कैसा है? उसकी सम्भारों कैसी और कौन-कौन हैं? भूगोल के दर्पण में देखने में ज्ञान दो चारों। कहीं सभूत परिवार टट रहे हैं, तो कहीं जुट रहे हैं। कहीं गाँव उड़ रहे हैं तो कहीं गाँव बड़ रहे हैं। कहीं धर्मिता का क्षेत्र है तो कहीं आरगशी का बोनबासा है। अपराधों में भी अिधना है--कहीं काल कहीं डकैती, कहीं तस्करी, कहीं चोरी। सभी के कारण है और भूगोल इन कारणों का उत्तर देता है। जहाँ चावल है, जनसंख्या घनी है, जहाँ जो है जनसंख्या विचरी है। जहाँ मरु के ओत है परिवार घने हैं, वहाँ लकी है परिवार टूटे हैं। बगैरों में इकैनों का ज्ञान है। नगरों में चोरी का।

व्यावहारिकता के कौन से, पथ-पथ पर भूगोल के पथ-संकेत प्राप्त होने हैं। अर्थ के क्षेत्र में, कौन-सा उत्पादन, कौन लाभप्रद है, कौन-सा रक्ष्य कहीं शिकार है, कौन-सा व्यापार कहीं योग्य है, कौन-सा आयात ठीक है और कौन निर्यात ठीक, कौन-सा मारो योग्य है और कौन-सा यातायात का साधन, भूगोल पर विश्वास काजिये और पुष्टिये, उत्तर सही प्राप्त होगा। राज के अर्थ-पुत्र में कितना आवश्यक है भूगोल का ज्ञान। इसीलिए तो कहा है कि देश की योग्यताओं की बागडोर विदेशियों की सन्निधि के हाथ में हो, जिसका नेतृत्व भूगोलवेत्ता करे।

भारत की एकता और अखण्डता के लिए, भारत की व्यवस्था और सम्पन्नता के लिए भारत की अहिंसा और प्रभुता के लिए आज भूगोल के राजपथ की आवश्यकता है। इसी पथ पर चलते हुए केरल और कश्मीर को जोड़ा जा सकता

है, कच्छ को कामरूप से बाँधा जा सकता है। केरल के खरणों से उठने वाला मेघ, कच्छ जाता है तो कामरूप को भी नहीं छोड़ता, हिमालय के सहारे पूर्व से पश्चिम यात्रा करता हुआ, कश्मीर की घाटी से विश्वाभ करता है। हिमालय अपनी भुजा फैला भारत को संरक्षण देता है तो सागर भी प्रहरी बन रक्षा में सज्ज रहता है। ब्रह्मपुत्र और सिन्धु उनकी अखण्डता की आवश्यकता पर बल देती हैं और पर्वत उसका प्रमाण। व्यवस्था के लिए भौगोलिक इकाइयों का गठन, तथा सम्पन्नता के लिए शक्ति साधनों की खोज और उनका उपयोग आवश्यक है। कब ने कहता आया है भूगोलवेत्ता कि भारत पेट्रोल के सागर पर तैरता है। परन्तु खोज अभी भी अधूरी है। भारत की भौगोलिक स्थिति भारत को विश्व का महान् राष्ट्र बनाती है।

भारत के वैशिष्ट्य भी भारत का भूगोल प्रकट करता है। दुर्भाग्य है कि हम अपना वैशिष्ट्य भी भूलें और अपनी सामर्थ्य भी। आवश्यकता है आज अपने स्वरूप को पहचानने की, अपनी धरती की शक्ति जानने की और अपने वैशिष्ट्य को सही मसझने की। यह सबव तभी है जब हम भूगोल के राजपथ पर चरण धरे, निःशक हो चलें, अपने आकाश के तले, अपनी धरती पर जीवन यात्रा करें। इस धरती की वन्दना करें, अर्चना करें।

समाज-साधना की पावन डगर-शिक्षा

समाज व्यक्तियों का जमघट नहीं, जीवमान अस्तित्व है। मात्र जीवमान ही नहीं अन्तर्दि में चला आया वह अस्तित्व जिसके घटक तो बदले हैं पर वह नहीं बदला। व्यक्ति आये और गये, पर उसे किसी ने आने नहीं देखा, जाने नहीं देखा। सब उन्हीं की गोद में आये और उसी की गोद में विनीत हुए, शिशु ने आँसू खोली तो उसे समाज की गोद मिली, प्रसन्नता से स्वागत किया। बूढ़ ने आँव भूँड़ी तो समाज की गोद में भूँड़ी, वेदना ने भीगी आँखों में बिदाई दी। समाज किसी के बनाये नहीं बना, समाज किसी के मिटाये नहीं मिटा, वह तो स्वयंभू है, नाशयव है जिसके हम सब घटक हैं। सबमें वह व्यक्त है। करोड़ों उसके कर हैं पर कृति एक है करोड़ों उसके चरण हैं पर गति एक है, करोड़ों उसके नेत्र हैं पर दृष्टि एक है। वह विराट् पुरुष है जिसकी हमने चन्दना की है।

व्यक्ति इस विराट् की अस्थिर, परन्तु आवश्यक इकाई है। आना और जाना तो उसका क्रम है, पर समाज के प्रवाह में कभी अभाव, उनका परिणाम नहीं। चलने में उसे कभी चरणों की कमी नहीं हुई। बस धरण बढ़ाने गये, वह चलता गया, कटार बदलने रहे, डोली चलती रही और चलने-चलने समाज की डोली जगल में गाँव, गाँव से नगर, नगर से महानगर और महानगर की चरतों में आकाश के भित्तारा तक जा पहुँची। समाज की डोली व्यक्ति के चरणों ही चली है व्यक्ति के हाथों ही सजी है और व्यक्ति के लिए ही बनी है।

व्यक्ति, क्या हाड-मांस का पुतला ? नहीं, व्यक्ति रांटी, कपड़ा और मकान के लिए झपटने वाला क्या भूख का मारा भेड़िया ? नहीं। व्यक्ति क्या दूसरो पर आधिपत्य जमाने के लिए और भोग के सगर में तैरने के लिए कोई पिशाच ? नहीं, व्यक्ति है मन, मस्तिष्क, हृदय, आत्मा और काया का श्रेष्ठ समुच्चय-समाज का अंग और उसका प्रतिनिधि। समाज उसमें व्यक्त है, वह समाज को व्यक्त करता है। निरन्तर गतिमान अभिव्यक्त अतीत की ज्ञान-धाती पूर्वजों से समेट वर्तमान में चला और भविष्य में अपने द्वारा सशोधित, वदित इस आती को, पुत्रों को और स्वयं चलता बना। वह चला गया, परन्तु समाज-चेतना नहीं भयी, सम्बन्ध नहीं गये, स्वभाव नहीं गया। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता गया। अनुभव उसे मानते और सँवारते गये। क्या यह ज्ञान की जय-यात्रा, क्या यह

अनुभव-प्रसारण की पावन प्रक्रिया शिक्षा के अनिश्चित और झुल्लू है ? कांतिरक्त व्यक्ति की तो कल्पना की जा सकती है परन्तु अशिक्षित समाज की कल्पना नहीं। क्या नौ ने शिशु को बोलना नहीं सिखाया ? क्या दाही ने उसे कहानी सुना नहीं सुनाया ? क्या कोई ने पंजाब का खगोल उसे नहीं बताया ? सब चलते-रहा, मन्वन्त जुड़ते रहे ।। प्यार पर वह लिम्बखिलाया, मन में श्रद्धा उमड़ी और समाज सम्बन्धों का त्रिभुज श्रद्धा, शक्ति और प्रेम पूर्ण हुआ ।

इन शिक्षा-क्रम को, भारतीय दृष्टि ने, दायित्व की संज्ञा दी। व्यक्ति पर ऋण लाया। उसे ऋणी हीना ही है। यह गुरु ऋण है। जा सीखा है, वह अपने दाहों को निम्नलेग। केवल उतना ही नहीं तो परिस्थिति के अनुकूल और सुधार का, संवाहक बटाकर। भाषी पीढ़ी का कोई उपकार नहीं, यह तो दायित्व है, जिम्मा निर्वह करना ही होगा। अपने पूर्वजों से प्राप्त धरोहर का आगे की पीढ़ी को सौंपना होता। परिचय का चिह्न जान बूक भी कहना है—

‘हम भूल के ऋण में उन्मेषण हूँ सकने है, प्राई हम भविष्य का जपना शूणो बनाये ।’

शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है। सत्कारण प्रक्रिया है। स्वयम् प्रक्रिया है। नवेन अपनी जीवोलिक परिसीमा में, अपनी अनुकूलियों के बल, अपनी धरती की सन्ध में आगे आनाज नले चला है। अपनी अस्तित्व है, अपने साध्यमे है। भाषा, भाषा के प्रत्याज सर्भा सुख अपने। नौ भी चले ग। भाषा केवल अस्थिति का साधन नही, वह स्वय प्रभिव्यक्ति की तो है। भाषा के एक-एक शब्द के पीछे, सत्य जीवन की अनुभूतियाँ, समझा इतिहास, उसका स्वरूप, उसकी संस्कृति यथी कुछ छिपी है। श्रेय स्वय, शब्द के पीछे हाकर होकर बोलना है। यथी (भाषा) के ही समाज-जीवन की यात्रा नगरी है। ‘वाचस्पेच प्रयातेन लोकयथा प्रवर्तते ।’

अनुभव के साथ-साथ ज्ञान की काती बटी। स्मरण-शक्ति ही यीमा ताँक, पाठ से बरबर आने लगी। आवश्यकता पड़ी पीढ़ियों ने नैतिक ज्ञान को आरम्भवा कर उसे सुदोख बना समाज की वेच की। जन्मेक की यह गायन नहीं, इतिहास हुआ शिक्षण संस्थाओं का उदय, शिक्षक सामने आया, राष्ट्र के सत्य के अनुकूल ज्ञान की इस धारों को आचरण निष्ठा। समाज ने संस्कार दिये। संस्कार की जमीरधी बन शिक्षा शैशव में कल-कल करनी पाठानों को काटने-छाँटने और संकर बनाने लगी, तन्प्राई में नटों को तोड़ ज्ञान के स्वाय में दीवारों को संघटने लगी और हड़ान-बन्धा में अनुभूति की महाराई से समाज-सागर में हहरती जा मिली। समाज की सीखों के साथ चली शालीय शिक्षा, परन्तु केवल पुस्तकों के पत्तों में नहीं, पन्नों से

बाहर शिक्षा के भीतर मान्य के मान्य प्रकार से वह विधा देती रहती । स्वाभाविक 'माध्या' की कसौटी बना । अपने को कसता हुआ मान्य की विधा पर बहता गया । व्यक्त बना कभी मरेन्द्र के विवेकानन्द, तो कभी मोहनदास से प्रभावित राखी ।

मानव प्रकृति की आधारभूत प्रकृतियों-भावकृति, ज्ञानकृति एवं कर्मकृति को समन्वित रूप अतिरिक्त के विकास को जँपाई हो । तीनों का ही निरन्तर साथ-साथ विकास में माध्या बना शक्य-शक्य एक-एक का चिन्तन मन्वन्त रूप में बाधक हुआ । यदि भावकृति विवेक को छोड़कर प्रकृति नहीं जाती तो कसौटी को पहचान नहीं ? यदि भावकृति से वह शक्ति, कर्मकृति छोड़ तो निर्माण क्या ? बाह्ये इसलिए भावकृति के साथ ज्ञानकृति, विवेक और मान्य के साथ कर्मकृति यदि बच गयी, ज्ञानकृति की छोड़, कहाँ ज्ञानकृति, तो सम्बन्धों की ही तोड़ गलतपक्ष को लग जायेगी जैसे । कर्म-कृति में प्रभा ज्ञानकृति ज्ञान तथा ज्ञानकृति को तो शक्य-शक्य तोड़ देंगे । मान्य का ही साथ बाह्ये । इसी में मान्य है । भाव के स्तर पर जो प्रकृति ज्ञान के स्तर पर बहती लक्ष्य है जोड़ कर्म के स्तर पर बहती है प्रकृति । भाव शक्य का परोक्ष है । घने ज्ञान स्तर का प्रतीक है । विज्ञान और कर्म स्तर का प्रतीक है राजनीति । समाज में इन तीनों का सम्बन्ध बाह्ये ।

मिथी को एक का अभाव समरज को तो दुनिया । व्यक्ति में भी भावकृति से शक्ति, ज्ञानकृति से ज्ञान, और कर्मकृति से शक्ति एक साथ बहती हो । द्वितीय बत तीनों शक्तियाँ उचित हो, एक साथ ।

आज मान्य है—

ज्ञान हर कुछ प्रभा निरन्तर, उरुका कभी पूरी हो गया की ?

उरुक दूसरे से ल मिल सकें, अथ बिहस्यता ही जँपाया की ।

इसका समाधान ? सम्बन्ध । कल्याण का मान्य है सम्बन्ध । संस्कार शक्य रानीति युक्त देवी, शर्मरहित विज्ञान निरन्तर देगा, विवेकरहित मस्ति जहुवा देगी । इसलिए लने जिज्ञा की समाजसाधक, संस्कार की भागीरथी बनाने जिज्ञा कराने, मज्जन, पान, शान समरण सभी कुछ लक्ष्य लिए कल्याणप्रद ही ।

स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का उद्देश्य

माँ धरती के पावन नस्पर्ह की समन्वययी लहरियों में आते ही मानव मन झुम उठा अमराइयो से आती हुई सुगन्धित समीर ने उसे दुलगाया किरणों की ऊष्मा कपोथो को लाल कर गयी । पक्षियों का कलरव उमका मगीत बना । अपने बछड़ों के लिए रँभानी गायों की पुकार उनके लिए पुकार बनी ।

आँख खोली, तो अपने को माँ की गोद में पाया । जिघ्रण देखा—लहर धरती का विस्मार और इस धरती की विशाल जोब में, उसकी प्रवल झाँझें माँ गऊ और बूढ़ो पर तैरने लगी । गऊ के म्बर-मे-म्बर गिलाकर वह भी पुकार उठा 'म्हूँ' और 'म्हूँ' ने 'माँ' को जन्म दिया ।

'शैशव' मितारो ने खेला । चन्दा से अठखेलियाँ की । द्वाग की देहरी गाँव मृगछौनो की कुर्लीचो में झूलल, मयूरो के लूथ में झूमा, कोयल की कुहू में मम्ह हुआ और मरिताओ के तट पर जा, कल-कल करती बेगमयी लहरियों में लो गया ।

पीने के लिए हुआ, खाने के लिए फल, खेलने के लिए धरती की गोद और मन रमाने को गड्ढो का माघ, पक्षियों का बियाद, सरिताओ का कलरव । अगाव नहरे, अशान्ति नही, अन्धाय नही । जिज्ञाना-ही-जिज्ञासा ।

जिज्ञासा ने चरगो को गति दी । चरण ऊँचाइयो को नापने लगे । गहराइयो को चाहने लगे । हिमाद्रि की घबल, आकाश को चूमनी ऊँचाई, आँवो में आपस्य भर गयी, सिन्धु की गहराई मस्तिष्क में चिन्तन की लहर दीडा गयी । वृष्टि ने माँ धरती के विस्तृत वक्षस्थल पर सागर से मिलने के लिए आतुर, हिमाद्रि क चर्यों से आती हुई पावनी रंगर को देला और सागर के उस तूफान को देखा जो आकाश को चीरता हुआ, हवा के साथ, सागर माथा, ने जा टकराया । वृष्टि हुई । वृष्टि ने धरती को भिगो दिया—तरुम मन को भिगो दिया ।

तरुणाई माँ धरती को नमन करने लगी । माँ ने अपनी छाती चीर समल सम्पदा बेटे को सौंप दी । वैभव-ही-वैभव । प्रौढता का स्वरूप । सर्वत्र मुख, शान्ति और आनन्द । कैसा सँघर्ष ? कैसा उत्पीडन ? कैसा शोषण ? प्रकृति माँ और मानव-पुत्र ।

माँ 'प्रकृति' ने अपना स्वभाव पुत्र को सौंपा। मन में उदारता, हृदय में विशालता, चिन्तन में समग्रता और आत्मा में गरम की लौज। समन्वय मानव का वैशिष्ट्य बना। हृदय की विशालता, पशुओं में, पक्षियों में, अपना ही रूप देखने लगी। मस्तिष्क ने उन्हें एक ही नियंत्रण तथा परमात्मन्द के लिए मोक्ष का मार्ग चुना।

रोटी उसका आराध्य नहीं। कुर्सी उसका साध्य नहीं। ममाज की उभासता में उनसे भगवान् की उपासना की। अपने व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास कर ममाज को सम्पन्न और वैभवयुक्त बनाते हुए उसने मोक्ष की याचना की है। कर्म से कोण बना है, धर्म से व्यवस्था दी है और ज्ञान से प्रकाश बिखेरा है; तभी तो यह धरती सोने की चिड़िया कहलाई। तभी तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और वसुधैव कुटुम्बकम्' के स्वर यहाँ से गूँजे और तभी तो यह देश विश्व-गुरु बना।

यह था भारत का महान् और स्वाभाविक विकास। अपनी धरती पर, अपनी प्रकृति और परिस्थिति के अनुरूप अनाधिकारता से, विकसित होता चला आया, व्यक्ति और ममाज का स्वस्थ स्वरूप। इन्हीं मस्कारों की शिक्षा की छाया में 'राम' का आदर्श मिला—जिनके 'राम राज्य' का स्वप्न वांछी ने देखा।

विदेशियों की ललचाई वृष्टि भारत पर पड़ी। आक्रमण-पर-आक्रमण हुए और दामता की वेड़ियों ने भारत को जकड़ लिया। स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हुआ। शिक्षा की दिशा बदली। मस्कारों का स्वरूप बदला। व्यक्ति से—पूर्ण व्यक्तित्व—का नहीं, दासत्व का विकास हुआ। आत्म-सम्मान नष्ट गया। विद्वानों का उदय रुका, भुन्गी और वायुधर्मों का जन्म हुआ। भारतीयों में हीनता की भावना बैठ गयी। श्रेष्ठ मस्कारों और परम्पराधर्मों का प्रश्न जाता रहा। न व्यक्ति का विकास हुआ और न ममाज का संस्कार।

दासता के विरुद्ध अंगड़ाई ले रही, राष्ट्रीय चेतना दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द और गांधी जैसे देशभक्त मार्गदर्शक दिये। अरविन्द के स्वर गूँजे—

"हम अतीत के पुत्र हो, वर्तमान के स्वाधी हो तथा भविष्य के निर्माता हैं।"

"अतीत हमारा आधार है, वर्तमान हमारी सामग्री है और भविष्य हमारा लक्ष्य।"

विदेशी दासवृत्ति उत्पन्न करने वाली शिक्षा की कटु आलोचना करते हुए उ होने कहा—

"सच्ची शिक्षा वही होती जो व्यक्ति व राष्ट्र की आत्मा के मन व शरीर में सार्थक कार्य करने का यन्त्र होगी।"

गांधी जी ने विचार व्यक्त किये—

“शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य ऐसे मनुष्यों का निर्माण करना है जो स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, विशुद्ध हृदय से कल्पना कर सकते हैं, उत्तम रीति से सोच सकते हैं, मद्भाव से संकल्प कर सकते हैं, शीघ्रता से योजना बना सकते हैं और स्वदेश की सेवा के लिए ईमानदारी से कार्य कर सकते हैं।”

परतन्त्रता के बन्धन टूटे । सत्ता का परिवर्तन हुआ । स्वतन्त्रता का जयनाद हुआ । परन्तु ‘स्व’ तन्त्र नहीं आया, ‘स्व’ मन्त्र नहीं आया । इतना ही नहीं, दासता के विरोध से जन्म रही प्रखर राष्ट्रीयता की मशाल भी बुझ गयी और वंश बाँध मुँदकर पश्चिमी सभ्यता के पीछे—अपने आदर्श और अपने मूल्य छोड़—दौड़ पड़ा । अंग्रेजी गाँव-गाँव गली-गली बस गयी, विदेशी वेशा दिल्हो के राजपथ से लेकर सन्त की सुझर कुटिया तक जा पहुँचे । निर्जीव पुस्तकों से सिर खवा, तोते की तरह रटने हुए, परोक्षा वीतरणी को किसी भी प्रकार पार कर, देशभक्ति से शून्य, शरीर से कुण, हृदय से मकुचित और आत्मा से निर्बल सहस्रो की सख्या में तन्त्र, डिग्री का बण्डल वादे, लौकरी के लिए कुण्डो खटभटाने लगे ।

मनुष्य केवल शरीर नहीं है, जिसके पोषण और बलवर्द्धन को शिक्षा का उद्देश्य मान लिया जाय । मनुष्य केवल मस्तिष्क नहीं है, जिसके विकास के लिए उसे ज्ञानशक्ति से भर दिया जाय । मनुष्य केवल हृदय नहीं है, जिसको महसु बनाने के लिए कला और सौन्दर्य से भर दिया जाय । मनुष्य कुण्ड और भी है, जिसके बिना वह मनुष्य नहीं बन सकता । मनुष्य मन, मस्तिष्क, हृदय, आत्मा और शरीर का समुच्चय है, जो समाज का अंग होने के साथ ही समाज का प्रतिनिधि भी है ।

इसलिए समाज को मस्कारित और श्रेष्ठ बनाने के लिए, समाज के अन्त-स्वरूप प्रत्येक मानव को सुशिक्षित और मस्कारित करना होगा । हृदय में सागर को विजयलता, मस्तिष्क में सूर्य की प्रखरता, आत्मा में परम की सबलता और काय में फौजद की बृहता भरनी होगी । ऐसे बने मानवीय अस्तित्व को मुपात्र की वेदी पर अपने सभी म्बाधों की आहुति देनी होगी—यह धारणा होगी पावनी देशभक्ति की गंगा की जिसमें अबशाहन कर प्रत्येक भारतीय पुण्य का भागी बने और भारत माँ की वन्दना में सर्वस्व समर्पण कर मविष्य का क्रियामक ।

अतीत की गहराई में नीव खोद, वर्तमान की सबल मम्पन्न दीवारों खड़ी कर, हम मस्तिष्क की ऊँचाइयों पर पहुँचने का प्रयास करें ।

‘स्व’ को भुलाकर हम समर्थ नहीं बन सकते । अपने स्वभाव और अपनी

कृति को समझना होगा । श्रद्धा और विश्वास को जगाया होगा । श्रद्धा भक्ति देती और विश्वास देती है ।

आज भारत को ही नहीं, विश्व को आवश्यकता है, भारत की धरती पर शिक्षा क प्रकाश की जो भौतिकता की आंधी में भटक रहे विश्व को दिशा दे सके, शक्ति के पैशाचिक पागलपन को रोक सके । मस्तिष्क पर हृदय के नियन्त्रण की आवश्यकता है । राजनीति पर—व्यक्ति धर्म और समाज धर्म के अकुण की आवश्यकता है ।

इसलिए ऐसी शिक्षा चाहिये जो समाज देश के लिए अभिप्रेत, तन में स्वस्थ, मन में प्रसन्न, हृदय से विशाल, मस्तिष्क में प्रखर और आत्मा से सबल तत्त्वों का निर्माण करे ।



तिरंगा प्यारा

ध्वज किसी संस्था, किसी संगठन, किसी समाज, किसी राज या किसी देश की पहचान का प्रतीक है ? ध्वज किसी अस्तित्व के बोध का, आकाश में फहराता हुआ स्वरूप है ? हाँ ! नहीं ! ध्वज मात्र पहचान का प्रतीक नहीं। ध्वज मात्र अस्तित्व-बोध का परिचायक नहीं। ध्वज तो हमारी समग्रता का सूत्रात्मक उद्घोष है। ध्वज तो हमारे जीवन-मूल्य का फहराता साकार स्वरूप है। ध्वज तो हमारी निष्ठा का पावन प्रतीक है। इसी समग्रता के लिए, इसी मूल्य के लिए और इसी निष्ठा के लिए हम जीते हैं, हम मरते हैं। देखा नहीं, हमारी समग्रता को पाता हुआ हमारे मूल्य को फहराता हुआ और हमारी निष्ठा को ऊँचा और ऊँचा उठाता हुआ हमारा केसरिया कब से आकाश में फहर रहा है। राम के रथ पर फहरा, अजुन के रथ पर लहरा, राणा और शिवा के साथ फर फर फहरा और अज भी वह फहराता है निर उठाये तो फहरता जा रहा है। क्या यह केसरिया, क्या यह भगवा मास चिह्न माग लें हम ? इसमें क्या हमें मानवता के उगते हुए स्रप की लाली नहीं दिखती ? क्या हमें, इसमें प्रण की उठती हुई लपटों की लालिमा नहीं मिलती ? क्या हमें इसमें साधु-मन्तो के केसरिया बरतों में प्रकटी पवित्रता और समर्पण की भावना नहीं दिखती ? क्या हमें, इसमें माँ धरती के लालों के बलि दानी रक्त की पावन धारा नहीं ममभ आती ? क्या इसे देखते ही, हमारे सामने राम, कृष्ण, राणा, शिवा, पद्मिनी और लक्ष्मीबाई की समाज और देश के लिए तिल-तिल जूझती हुई पावन मूर्ति नहीं निरती ? राष्ट्र-जीवन का सब कुछ तो, प्रकट कर देना है यह भगवा हमारा !

प्रत्येक राष्ट्र का अपना ध्वज है। छोटा हो या बड़ा, राष्ट्र तो राष्ट्र है उसका अपना अस्तित्व है। अपना दर्शन है। अपना मूल्य है। ध्वज उसकी को व्यक्त करता हुआ, फहराता है। कहीं रण नीला है तो कहीं पीला, कहीं लाल है तो कहीं हरा। कहीं तारे चमकते हैं तो कहीं चन्द्र। कहीं सूरज और चाँद दोनों ही चमकते हैं माघ-माघ। सब कहते हैं अपनी-अपनी बोध-कथा। सब में निहित है, समाज का दर्शन। इसी को ले बहू गहन में फहराता है।

पवनप्रता के काल में, भारत के लाल किन्ने पर, इसका अपना ध्वज भला कैसा फहरता। वहाँ तो फहराता था अंग्रेजों का परचम। हाँ, समाज के आँसु के

अवश्य ही कैसरिया खिया न था, फहराता था। मन-मन में बसता था। रामदल खानते ही, गीता उठाते ही, जब दजंत होते थे राम के, कृष्ण के, तो रथ पर फहरता कैसरिया भी मन में उतर जाता था। सबको बिलूल कर देता है, यह ध्वज। दासना से लड़ते-लड़ते, कभी ध्वज मन से उतरा न था। तिरिये से पहले, इसी ध्वज को तो चाहा गया था और निरगा आया भी तो यही कैसरिया सबसे ऊपर लेकर फहरा।

कहा गया, कैसरिया त्याग और बलिदान का शीतक है, मध्य में समकता ध्वज श्वेत शान्ति का प्रतीक है और नीचे लहराता हृदय रंग है सम्पन्नता का प्रकाश। हमें शान्ति चाहिये, सम्पन्नता चाहिये और इसके लिए देना होगा बलिदान, करता होगा त्याग। सतत स्मरण कराने के लिए शान्ति का संदेश, मध्य में अंकित है भग्नोक्त का चक्र। घमंता हुआ प्रतिक्षण मानो एक यही शान्ति और श्रद्धा का उपदेश देता है। यह तो भाव जाहा था तिरिया राधू को समर्पित करने वालो ने। उनके भक्तिधक की धारणा भी यह। इस धारणा को घर-घर उलूते पहुँचाया, समझाया। यह ध्वज ने नहीं कहा, यह ध्वज ने प्रकट नहीं किया। ध्वज के प्रति हमारी धारणा प्रकट हुई। हम नया चाहते हैं, उसे ध्वज के रंगों में, उसके आकार में हमने पढ़ा।

ईश्वर का ही अक्षय विधान है सब। वह जो चाहता है, अपने पुत्रों से करवा लेता है। स्वयं तो करमें कुछ आता नहीं। हमी तो उसके हाथ-पैर हैं। देश स्वतंत्र हुआ। परतंत्रता गयी। तो 'स्व' का प्रकाश भी चाहिए। 'स्व' बसके, 'स्व' के प्रकाश में हम बसों, 'स्व' हमें गस्ता दिखाये। अशेषित था, इसीलिए तो, कि 'स्व' का स्वर्ण जब ध्वज फहर-फहर फहरा। हमारी बुद्धि वैसी ही बनी। हमने रच लिया ध्वज। ध्वज जो 'स्व' का साकार स्वरूप ही है, राष्ट्र चैतन्य और राष्ट्र विश्वास का मजबूत प्रतीक है। बुद्धि पढ़ते ही, फहराने ध्वज को देना, उड़ता पैरों की श्राग जाती है। चरैवेति-चरैवेति बूब उठता है भारत-कश्मीर से लेकर, कल्याणुमारी तक, गतिवान है। कश्मीर का बसंत भयमा ब्रज सिंह रखा है, राष्ट्रस्थान का मरुस्थल धवल सिकता ब्रज मध्य में विराजा है और केरल की हरीसिमा लहरा रही है तले। समय का चक्र क्षण-क्षण परिवर्तन का संकेत करता, बढ़ते रहने और बढ़ने रहने का संदेश दे रहा है। प्रतिपन्न का स्पन्दन ही तो उसकी स्वीकृति है। चक्र के संदेश को हृदय में धर, बढ़ मतत यह घर है। जागलक रहे सदा, इसीलिए चक्र भी कभी शीघ्र से शीघ्रता नहीं। कैसरिया, लहरते हुए रंग को, मरुस्थली की लक्ष्मिमा। विश्वर, मन को बाँध लेता है धवल संकेत मध्य में, बढ़ती हुई पावन भगा की ज्योति भर जाता है और हरा-सिमा लहराती-लहराती मां यमुना की छावि आँखों में उतार देनी है। कैसा पावन है

यह गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम। कर्म की गंगा, ज्ञान की सरस्वती और शील की यमुना मिल, मानो सम्पूर्ण जीवन-शैली का विवेचन सामने रख देती हैं। कर्म चाहिये, परन्तु ज्ञान के खुले चक्षुओं के प्रकाश में और यह भी शील में तना स्नेह से पया। यही कर्म तो निर्माण का आधार है।

व्यक्ति बने, समाज मरने और राष्ट्र बिकने, इसलिए कर्म की प्राग्वही ही रहनी चाहिए, सतत ज्ञान का प्रकाश बिखरता और जीत की छाँह तब कम का मुपरिणाम बराबर बरसता। कैसा ही मभव यह सब? कहीं विपत्तियों के बल आकाश में न छा जायें, कहीं व्यवधानों के तूफान ज्योम पर न टा जायें और कहीं विप्लव की लपटें ही अपने आँगन में न फँस जायें। इसलिए चाहिये सतत जागरूकता, सतत मजबूतता और सतत सक्रिय शक्ति का सम्पर्क। शक्ति बिना शान्ति कैसी? शान्ति बिना सम्पन्नता कहीं? स्मरण कहीं? स्मरण दिलाने यही तो ध्वज के मध्य में, कृष्ण का चक्र उतर आया है? जहाँ चक्र है कृष्ण का, विजय-ही-विजय है वहाँ। रक्षा की दृष्टि यही तो चाहिए। राष्ट्र की एकता और राष्ट्र की अखण्डता इसी दृष्टि से रक्षित रह सकती है।

चक्र को लेकर फहरता यह तिरंगा, किसी सामान्य लकड़ी पर नहीं सधा है। लकड़ी नहीं यह तो दण्ड है। दण्ड और दण्ड भी धर्म का। धर्म के दण्ड पर सधा तिरंगा, धर्म छोड़ फहर नहीं सकता। व्यक्ति अपना धर्म पालन करें। बने मशक्त, बने चरित्र से युक्त, बने प्यार, श्रद्धा और भक्ति के सम्बन्धों से सम्पृक्त, बने समाज का अंग और उसका सच्चा प्रतिनिधि, समर्पित हो तन-मन-धन-जीवन उसका इस समष्टि के लिए। बनते ही व्यक्ति के, समाज स्वयं बन जाता है। समाज धर्म है, व्यक्ति को जनना, उसको पालना, पूर्ण विकास देना और समृद्धि के हाथी सुख-शान्ति की बरसा करना। समाज यह दायित्व वहन करे और समाज के लिए व्यक्ति अपने समाज धर्म का निर्वाह करे। सम्बन्ध साधे और समर्पित हो उसके हित। राष्ट्र का धर्म है, अपने पुत्रों में प्रकटे, धर-वर चैतन्य को भर दे, सरक्षण और शक्ति दे और पुत्र उसका अपना राष्ट्रहित धर्म का निर्वाह कर राष्ट्र को अखण्डता दे, राष्ट्र को एकता दे, राष्ट्र को शान्ति दे, राष्ट्र को गौरव प्रदान करे। धर्म का पूर्ण प्राकट्य चाहिये। इसी दण्ड पर ध्वज रह सकता है।

दण्ड रहे, दण्ड पर ध्वज रहे, इसीलिए करनी होगी साधना। साधना मन्दिरो में नहीं, साधना यज्ञ-मण्डलो पर नहीं। साधना जन-जन को, माँ धरती के कण-कण पर करनी होगी। कामना करते हुए, प्रार्थना करते हुए कि माँ तेरा पुत्र हूँ मैं, तेरा रक्त हूँ मैं, तेरा दायित्व हूँ मैं, तेरा ही तू हूँ मैं। तूने ही तो मुझे कण्ट सह, ध्यान से पाला है। तू मेरी शक्ति है, तू मेरी भक्ति है, तू मेरा सर्वस्व है। तेरे लिए ही अर्पित है यह तन- यह मन- यह धन और यह जीवन

फिर भी तो मैं उधृष्ट नहीं। मत्त यह कामना, कामना की पूर्ति के लिए योजना और योजना के लिए साधना चाहिए। दण्ड पर ध्वज फहराने वाली डोर यही साधना ही तो है। साधना की डोर बिना ध्वज फहरा कैसे सकता है। चले हम इस साधना में जुटें। साधना चलती रही तो फहरता रहेगा तिरंगा।

गम्लन, तिरंगे पर बात है। कहीं पीली, कहीं लाल, कहीं नीली अनुलिपियाँ बढ़ती आ रही हैं। वह देख, उँगली घातान की ऊपर उसी तिरंगे की ओर उठ रही है। भ्रमभ और परख, दण्ड के ठोक नीचे बैठ, साधना की डोर को पकड़ कौन निगाह झटका दे रहा है। भूल मत आगन में तेरे, भण्डे का उतारने वाले बैठे हैं। उन्हें अक्ल नहीं लगता तिरंगा। इनका परचम और है, इनका निशान और है। उसी के मुरीद हैं ये, उसी के लिए कमिठिठ है ये। उन्हें पहचानो। सो गये तो सब कुछ चला जायेगा, खो गये दो कुछ भी न रहेगा। इसलिए साधना, अपनी धरती पर अपने 'स्व' का साधना में जुटो। गल्लुओं को जानो, पहचानो और उन्हें कर दो सदैव के लिए दूर।

तिरंगा, हमारे लिए, चिह्न नहीं है। तिरंगा हमारे लिए कपडा नहीं है। तिरंगा हमारे लिए देश की पहचान नहीं है। तिरंगा तो हमारे अस्तित्व की छवकन है, राष्ट्र का जीवन है, समाज का र्जतन्य है, स्वाभिमान का स्वरूप है, 'स्व' की फहरती पताका है। इसे भ्रुकने नहीं देंगे। हाथ इधर उठा तो हाथ नहीं होगा, आँख इधर उठी तो आँख नहीं होगी। समर्पण और बलिदान की परन्दरा इसे मुक्त मन में फहरानी ही रहेगी। ध्वज फहरना ही रहेगा। तिरंगा फहरता ही रहेगा।



यह पुण्य प्रवाह हमारा

हम स्थिर नहीं गतिवान् हैं। किसी तप्त महस्थल में आकाश में टपक पड़ने वाली जल की बूँद नहीं, जो क्षण भर चली और तपन की गोद में विचलित हो गयी। अपने लिये छूटपटायी और खो गयी। किसी पीम्बर का जल भी नहीं हैं हम, जो कगारो से बँधा, धमा और सीमाओं की कारा में सिमटा मडोंघ्र में बैठे। किसी गगन कुम्भी लैशार्ड पर पड़ी श्वेत धवल हिमराशि भी नहीं जो अपनी उच्चता और पव सता पर ठठलाई तो परन्तु किसी के हिन दो चरण भी न चली। बतकर रह गयी चट्टान। अदृश्य और अज्ञान। हम तो हैं, धरा के आँगन में कल-कल कर बहने वाली अनादि काल से चलती चली आयी, धारा के सनातन प्रवाह। चलते आये हैं, चल रहे हैं, चलते चले जायेंगे। प्रवाह प्रवाह ही रहेगा। न बँधेगा न रुकेगा, न कहीं जायेगा खो। अपनी दिशा, अपना पथ और अपना ही शाश्वत स्वरूप।

प्रवाह व्यर्थ नहीं। अपने स्वरूप को साधा। अपनी प्रकृति को बाँधा। चैतन्य को आकार दिया। जीवन बन चला। जिसके संस्पर्श को पा कण-कण जीवस से थिरक उठा। वह भी गतिवान् बना। प्रवाह में पड़ा और बन गया प्रवाह। न रही जड़ता और न रह गया विकार। शुद्ध समुज्ज्वल पवित्र प्रवाह की धारा। बिन्दु बिन्दु इसका पावन, बिन्दु-बिन्दु इसका कल्याणप्रद। जिसने भी देखा वह धन्य बना जिसने भी संस्पर्श किया वह कृतकृत्य हो गया और जिसने आत्मन कर लिया वह तो स्वयं की भूल प्रवाह के आनन्द में रम गया, हो गया प्रवाह का। मात्र अपने लिये नहीं, प्रवाह का अस्तित्व। समग्रता के हित के लिए चला है यह पुण्य प्रवाह। कर्तव्य की डगर पर है, वह। कैसा स्वार्थ और कैसी सकीर्णता। सबके लिए, पावन गंगा का प्रवाह है, वह।

हो भी क्यों न? किमी अभाव की कोख से उमने जन्म तो नहीं पाया। भूख और प्यास की छूटपटाती पीडा से उमने जीवन नहीं लिया। रक्त के लिए भ्रष्टाने हिन्व भेड़ियों से उमे जिन्दगी नहीं मिली। अधूरे, बिगड़े और लंगड़े अस्तित्वों से उमने प्राण नहीं पाये। उमका जन्म तो धरा की पूर्ण और पवित्र पृथ्वी भारत की कोख से हुआ है। जिस धरा में सम्पूर्णता वास करती है, जिस धरा के कण-कण में पवित्रता निवास करती है और जिस धरा में स्वयं वा परम शक्ति तर से नारायण का विकास करती है।

यह धरा है हिन्दुस्तान। इंग्लैण्ड की तरह कटी-फटी नहीं। जापान की तरह टुकड़े टुकड़े नहीं। अमेरिका की तरह सिरविहीन नहीं। रूस की तरह आधी छत्र और आधी उधर नहीं। यह तो है अपने में एक और यह भी संतुलित आकार का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप। हिमाद्रि इसका शीश है और कन्याकुमारी इसके चरण; अवय है इसका हृदय और विन्ध्य इसकी कटि, पश्चिमी और पूर्वी घाट हैं जघाएँ तो पंजाब और अमम इसकी भुजा; कश्मीर का केसर है जिसका तिलक और लहरानी धवल गग यमुन हैं ग्रीवा में पड़ी सुन्दर माला, हरीतिमा है माथी तो लहरों से खुल-खुल वज्रत लका के मूषु, मलय जिस पर डुलाता है मतत विजन और सुनाता है कलरव गान, पश्चिमी का गगन में उड़ता आनन्दमगन अपार समूह। कैला दिव्य है स्वरूप। धरती के वक्ष-स्थल पर, सागर की लहरों में लभरता हुआ, गणन को चूमने वाला माँ भारत का प्रकाश बिखेरता विराट् रूप।

विराट् तो है, पर बिखरा नहीं। है एक। सागर हिमाद्रि के चरणों में नत होता है। मेघ बन उड़ता है तो समग्र काया को प्यार से छूता मचलता, बरसता, हिमाद्रि को पूर्व में पश्चिम तक दुलराता चला जाता है और हिमाद्रि गद्गद हो जो प्रेमाशु बहाता है तो सागर की गोब में जाकर ही शमता है। सागर का जल, मेघ के घट हिमाद्रि पहुँचाने हैं और हिमाद्रि का घवल हिम, गंगा, यमुना, सिन्ध, ब्रह्मपुत्र सागर में ला डालती है। पश्चिम के चक्रदात पंजाब की हवा अमम ले जाते हैं तो मानसून, अमम की गध पंजाब ला पटकती है। कण-कण भारत का मुगड इकाई का अग है। पर्वत और सागर, पठार और मैदान, नदी और पोखर, वन और रेगि स्तान सब मिलकर इस इकाई को रचते हैं, इकाई का स्वरूप ही इसका जन-जन्म में एक का भाव भरता है। एकात्म की दिशा देता है।

व्यक्ति के जीवन में यहाँ द्वैत नहीं। अन्दर और बाहर एक। मन और मन एक। जो सोचता है, वह कहता है। जो कहता है वह करता है। अद्यात्म के क्षेत्र में तो मन, वचन और कर्म की एकरूपता अनिवार्य है ही, लौकिक क्षेत्र में भी यही है पूज्य। विदेश की धरती बोहरे जीवन को लेकर बढी है। यहाँ तो व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन के दो अलग-अलग रूप कभी न हुए। राम रहे हो या हो गात्री जीवन का सदैव रहा एक ही रूप। व्यक्तिगत जीवन में भ्रष्ट, सामाजिक जीवन में कभी भी पूजा न गया। भला लालबहादुर शास्त्री और दीनदयाल का चित्र कभी भुलाया जा सकता है। घर के आँगन से लेकर, समाज के सर्वोच्च सिखर तक, वे रहे सदैव एक।

व्यक्ति व्यक्ति में मिलकर समाज नहीं बना। व्यक्ति व्यक्ति बिखरा नहीं खड़ा। समाज तो स्वयम् सावयव जीवमान अस्तित्व है, जिसके हम सब स्वाभाविक

८४ / स हिन्दु समाज और भारतीयता

घटक हैं। समाज एक है और हैं हम सब उसके अंग। समाज इकाइयों का समुच्चय या सघ नहीं, वह तो समस्त अंगों में सजा एक विराट् अस्तित्व है। एक इकाई है। जन-जन उसका प्रकट अस्तित्व है। सब में एक ही चेतना है, एक ही स्पन्दन है और है एक ही भाव। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, कच्छ से लेकर कामरूप तक, एक ही बोध भूजता है, एक ही निष्ठा रमती है। राजनीति की रेखाओं से बने घर्दों कितने उभरे और कितने मिटे, कितने राजा आये और गये, मतो और पन्था के कितने चक्र चले और थमे परन्तु भारत की धरती पर बसे भारत के पुत्रवत् समाज के जीवन में कभी भी विभाजन की रेखाएँ नहीं बनीं। रास घर-घर आराध्य रहे कृष्ण घर-घर पूजित रहे, ओऽम् घर-घर गूँजता रहा।

पुत्रवत् समाज धरा को कभी न भूला। भोग की भूमि मान, कभी वह धरती पर नहीं चला। वन्दे मातरम् कह उसने धरा को पूजा। धरा के लिए वह जिया और धरा के लिए बह मरा। फार्मी का फन्दा चूमा, सीने पर गोली खायी परन्तु माँ की भूति आँखों में मदैव नाचती रही। धरती और धरती की पावन परम्परा, धरती का भूगोल और धरती का इतिहास, जीवन का आधार रहा। भारत का अर्थ ही रहा, भारत की धरती, भारत का समाज और भारत का सतत चलता चला आया जीवन-उसकी संस्कृति। यही तो है राष्ट्र। एक इकाई, जीवत और पूर्ण।

भारतीय समाज ने सब में एक ही मत्ता के दर्शन किये। सीयराम सब जग जानी, वह सभी को नमता रहा। आत्मवत् सर्वभूतेषु समस्त वह सभी को अपना मानता रहा। सभी तो किसी भी समाज और किसी भी मजहब या रेलीजन को उसने दुत्कारा नहीं। भक्त रहा, एकम् सत् विद्वा बहुधा वदन्ति। मुसलमानों को लिया ईसाइयों को लिया और कभी नहीं कहा कि उनका मजहब मजहब नहीं या उनका रेलीजन रेलीजन नहीं। इसी एकात्म दर्शन ने, सर्वे भवन्तु सुखिनः का स्वर गुंजाया और विश्व को एक कुटुम्ब की परिधि में बाँध दिया। वसुधैव कुटुम्बकम् जयघोष किसी ओर का नहीं, हमारा ही है।

प्रकृति के हाथों ने देश की धरती को अनेक टुकड़ों में नहीं रचा, विधा है उसे एक सुगठित इकाई का स्वरूप और इसी इकाई के सुगठित स्वरूप में उपजी है एकत्व की भावना, व्यक्ति में, समाज में, राष्ट्र में समष्टि में। सुगठित इकाई है अपने में पूर्ण और मगर्थ। विश्व के मानचित्र पर स्थिति देखिये इसकी। भूमध्य रेखा पर चरण धरे, कर्क रेखा को गोद में समेटे, अपने इन्तत विश्व पर ध्रुव का वैभव लिये, विश्व के केन्द्र में यूरोप, एशिया, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका से घिरी गुरु बन् सर्वाविता खड़ी है, माँ। इसका अपना पर्वत है, इसका अपना सागर है और है इनकी अपनी ही वर्षा, अपनी ही तपन और अपनी ही शीत। बाहर से वर्षा नहीं आती, बाहर से

तपन नहीं बढ़ती और न बाहर से शीत ही घँसती है। नवीनतम चट्टानों में बना विश्व का उच्चतम शिखर यदि हमका अपना है तो प्राचीनतम चट्टानों से पड़ा महाद्वि भी हमका अपना है, किमी और का नहीं। विशाल पठार हैं, तो मैदान भी। पोखर है तो नदियाँ भी। ग्लेशियर हैं तो झरने भी। तप्त तवे-मा सपता राजस्थान है तो सतत नहाता वर्षा से, चेरापूँजी भी। बन हैं तो ऊसर भी। केसर की धयारी है ता काँटों की भाडियाँ भी। विश्व सिमटकर, इस धरती में आ बैठा है। ध्रुव हिमाद्रि पर, सूडान महाद्वि पर, कांगो बंगाल में तो मन्नारा राजधान पर। कौन-मा काना है विश्व का, जो उस धरा की गोद में धाकर बैठ नहीं गया। आरम्भी है विश्व की यह। प्रत्येक प्रकार की जलवायु और प्रत्येक प्रकार की वनस्पति, प्रत्येक प्रकार के पशु-पक्षी और प्रत्येक प्रकार की सम्पदा। कौन-भी वस्तु नहीं है इस भारत में। पूर्णता की धरती है यह इनीलिए जीवन विकसित है, पूर्णता का।

रोटी का अभाव होता, तां रुम की तरह रोटी ही भगवान् बनता। पैस का अभाव होता, तो अमेरिका की तरह पैस ही प्राण बनता। व्यापार का अभाव होता, तो इंग्लैण्ड की तरह व्यापार ही जीवन होता। राजनीति की चाह होती, ता फ्रांस की तरह राजनीति ही सर्वस्व हो जाती। बीहड़ों, बीगलों और रेगिस्तानों में घटकने वाली भेड़ियों की शूल होती, तो अरब और ईरान की तरह खून में सनी जिदगी ही सब-कुछ बन जाती। परन्तु यहाँ तो प्रकृति ने दोनों दृश्यों उदार बन पूर्णता विश्वेरी है। कैसा अभाव? पूर्णता की धरती ने पुरुष को दिया है जीवन भी, पूर्ण। तन उसका स्वस्थ, मन उसका प्रसन्न, हृदय उसका विशाल, भस्मिक उसका प्रखर, वातमय उसकी मबल और स्वयं के साथ ही समाज का बोध भी उसका मगवत। पशु के समान केवल पेट लेकर नहीं चला है वह। केवल भौतिक उपलब्धि ही नहीं है सर्वस्व। स्वार्थ का पिटारा नहीं है वह। व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास है उसका लक्ष्य। यह लोक और परलोक दोनों ही साधना है उसे।

अपने लिये ही नहीं जीता, यहाँ का व्यक्ति। परहित गरिम धर्म नहीं भाई के भाव में पगा, वह समाज के चरणों नत होता है। समाज की सेवा में ही वह अपने आराध्य की सेवा पाता है। समाज है भी तो उसी का व्याप। उसका अपनापन फैलता-फैलता समाज की समस्त विस्तार करने वाली रेखाओं को छूता है। अपना घर, अपना शाय, अपना गाँव बढ़कर अपना क्षेत्र और अपना क्षेत्र बढ़कर अपना देश स्वयं ही हो जाता है। व्यक्ति के विकास के साथ ही, समाज का सम्बन्ध भी व्याप पा जाता है। भारत की प्रकृति ही है बिन्दु में बढ़ते-बढ़ते बर्तुलाकार समष्टि के स्वरूप में खो जाना। यह बोध इसी धरती की पूर्णता की देन है। सकुचन नहीं, प्रस्फुटन है यहाँ का भाव।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही जीवन की पूर्णता के चरण हैं। यह पूर्णता का जीवन, इस धरा की अनुपम देन है, विश्व को। धर्म पर चलते हुए अर्थ का अर्जन करना और अर्थ को आवश्यकतानुसार इच्छाओं की पूर्ति में लगाना तथा योग्य रीति से तुष्टि को प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति में जुट जाना। धर्म को छोड़ यहाँ पर जीवन नहीं चला। प्रत्येक पग धर्म के धरातल पर पड़ा है। तभी तो धर्म के पसीने ने अर्थ अर्जित किया है, अन्यथा लूटा हुआ अर्थ अनर्थ ही बन जाता। स्वयं के तिल-तिल जलबों और कण-कण गन्धों के परिणामस्वरूप जो मधुरतम अपनी और अपनी ही सम्पत्ति मिली वह ईश्वर को अर्पित कर, प्रभावस्वरूप कामताओं की तुष्टि के लिए मात्र अन्वाष लेकर, जो सुख की उपलब्धि मिली है, वह कितनी है प्रिय और सुखकर। यही यात्रा तो आगे ले जाकर हमें पहुँचाती है मोक्ष के द्वार। बनती है नर मे नारायण। यही है व्यक्तिक निर्माण का सम्पूर्ण ज्ञान। यही है नर से भारारण बनाने का सम्पूर्ण बोध। यह इस सम्पूर्णता की धरती ने, अपने पुत्रों को दिया है। तांडना और बिखेरना नहीं। जोड़ना और मिलाना। विश्लेषण नहीं संश्लेषण, यहाँ की शैली है। टुकड़े-टुकड़े का ज्ञान और अध्ययन नहीं, पूर्ण का और पूर्णता की शक्ति का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। हाथ, पैर, नाक, कान का अध्ययन नहीं, एक बार सम्पूर्ण मानव का ज्ञान चाहिये। हाथ, पैर, नाक, कान का अध्ययन डॉक्टर नहीं, मनुष्य का डॉक्टर चाहिये। संश्लेषण ही कला है, संश्लेषण ही जीवन है।

सम्पूर्णता की इकाई, भारत बीनेपन को रेखाओं में नहीं बँधा। विराट बना है, वह सहस्रो मील लम्बा, महस्रो मील चौड़ा और वह भी सुन्दरतम आकृति के स्वरूप में। न पतली चबती चली गयी पट्टी और न दिश्रिज कोनों की लेकर फैलने वाली अशोभन आकृति। वह तो उभरी है बनकर सुन्दरता का नया स्वरूप। विराटता जिसकी शक्ति है और सुन्दरता जिसका गुण। यही विराटता तो इसके पुत्र में समा गयी है। फिर भला वह क्षुद्र कैसे हो सकता है। उसका हृदय विशाल होगा ही, उसका चिन्तन समष्टि का चिन्तन होगा ही, उसका दर्शन समग्रता का दर्शन होगा ही। प्रार्थना कैसे भी तो अपने लिये नहीं। बरबस कह उठेगा विश्व का कल्याण हो, प्राणियों में सद्भावना हो। सबैश भ्रान्ति बाहेगा, शान्ति। इसीलिए तो श्राम्य है, वह। विश्व की पथ पर जाना और धर्म का पाठ पढ़ाना, उसका दायित्व है।

सम्पन्नता बरभती है इस धरती पर। प्रकृति ने सम्पन्नता देने में कोई कमी नहीं की। धरती सोना उगलती है। वस फाड़ अपना, पुत्रों की मोली में सम्पदा

भर देती है। अन्न है, अन्न हैं, वस्त्र है, साधन हैं, शृंगार है—बस सब-कुछ तो है इसकी गोद में, जीवन चले इसीलिए चाहिये मात्र भोजन और वस्त्र, शेष तो समष्टि का पालन है। फिर कौमी कमी और कौसी पीड़ा? देना-ही-देना है! दान ही वृत्ति बनी है यहाँ की। तेरा तुझको अर्पण कह, सब-कुछ समाज को समर्पित है। विष्व का भरण-पोषण यह धरती करती रही। तभी तो बती है भारत। विश्व भरण पोषण कर जोई, नाकर नाम भरत अस होई। मोने की चिड़िया, भले आज बूढ़ों के अर्पण में, दुकड़ी के लिए, निहारे, परखु रही है और है धाज भी सम्पत्तता की शक्ति। दानवृत्ति इसी का परिणाम है।

सम्पन्नता विभिन्नता में भरी है। ईराक नहीं, जहाँ केवल तेल है। मलाया नहीं जहाँ केवल रबर है। यह तो भारत है, जहाँ मृष्टि की हर पूँजी बिखरी है। यही तो इसका मौनार्थ है और है ब्रह्म भी व्यवस्थित। इस विभिन्नता को समेटने और जोड़ने का कार्य प्रकृति करती है तो प्रकृति के शलते में चलने वाला भारत का पुत्र भी इससे भागता नहीं। वह समन्वय कर सबको जुटाता है। समन्वय बन गया है यहाँ के समाज का स्वभाव। सबको साथ लेकर चलने का, मदद से रहा है, यहाँ का भाव। तभी तो व्यक्ति-व्यक्ति बिखरे नहीं, परिवार बन बड़े हैं, गाँव बन चले हैं और नगज बन पले हैं। आम भी कश्मीर का वासी, कन्याकुमारी के निवासी से जुड़ा है। विघटन की प्रक्रिया तो पश्चिम की देन है, जो परिवार तोड़ती है, व्यक्ति तोड़ती हैं। समन्वय की धारा यहाँ तो सबको जोड़ती हुई बहा है।

प्रकृति की फैली हुई इस विशाल पुष्पक ने ज्ञान के समस्त रहस्य, भारत के सामने खोलकर रख दिये हैं। भौतिक ज्ञान की अँचाइयाँ हमने प्राप्त की हैं तो व्यापारिक ज्ञान की सर्वोच्च चोटियों को भी हमने अपने हाथों में पाया है। प्रत्येक प्रकार की परिस्थिति और प्रत्येक प्रकार का अवसर प्रस्तुत कर, व्यक्ति को, प्रकृति ने, ज्ञान के चक्रु खोलने का काम सम्हाला है। कोई भी दिशा अच्छी नहीं, कोई भी पक्ष अनदेखा नहीं रहा। इसीलिए तो यहाँ का ज्ञान, सम्पूर्णता का ज्ञान बना। यहाँ का पथ, विश्व का पथ बना। यहाँ का बोध मानव-धर्म बना। इस पर जगत् विश्व ता कल्याण है, भगा दूर इससे तो विनाश है।

सतत जोड़ती हुई नदियों ने, भर-भर भरते हुए झरनों ने, आकाश की ओर उफनती और उठती हुई जल-राशियों ने, कुलाँचि भरते हुए हिमनों ने, आकाश चीरते पक्षियों ने कौन-सी प्रेरणा दी है, यहाँ के व्यक्ति को। यही तो न कि चलते रहो, चलने रहो। चरैवेति चरैवेति। कर्म का यह पाठ, प्रकृति ने भली प्रकार पुरुष को पढ़ा दिया। ज्ञान दे उसे, कर्म पर जुटा दिया। उसे उसका दायित्व बता दिया। धर्म

की धरती यह, कर्म की धरती बनी। सम्पूर्णता की धरती से धर्म नहीं फूट तो क्या अभावों की धरती से निकलेगा। धर्म, कर्म का पाठ नहीं दगा, तो क्या अधम का कोख से कर्म की शिक्षा बहेगी। यह शीबन कर्म की गंगा है। फरते-फरते समीप हित, सपते-सपते ही, स्वर्ण बन जाना है। यही इस धरती ने दिया है और धरती के पुत्रों ने लिया है।

कर्म अहं की धोटियों पर जाकर नहीं बैठ गया। वह तो राम का पावन प्रसाद बन, गाँव-गाँव, गली-गली, चला है। कर्म का सम्पूर्णत्व प्रकाश है यदि राम के आचरण में, तो यहाँ का जन-जन उस आचरण से अछूता नहीं रहा। भ्रष्टता वही रही है। गाँधी का आचरण, कर्म की शील-सनी गंगा है, तो दीनदयालु का जीवन कर्म की शील-पथी सरस्वती। सर्वत्र जुड़ा है शील, कर्म की भावना से। ज्ञान, कर्म और शील की पावन त्रिवेणी, इस धरती पर बही है। उसे लेकर, यहाँ का व्यक्ति आगे बढ़ा है। यात्रा उसकी वर्तमान में ही रुकी नहीं, अतीत में चक्की चली जारी, अदृश्य भविष्य की गहराइयों में पहुँच रही है। पुनर्जन्म में उसका पूर्ण विश्वास है।

माँ भारत की गोद में जन्मते और उसकी गोद में पलते, भारत के समाज ने, भारत माँ की चेतना अपने में पाली है। सब में वह विद्यमान है। साकार हो, आचरण में अपने पुत्रों के बड़े बोन उठी है। कण-कण मुखरित है कर्म में। कण-क्षण ध्वमित है जीवन में। कुछ भी तो नहीं है ऐसा जो माँ ने अपने पुत्रों को नहीं दे रखा है। यह एकत्म, यह पूर्णता का चिन्तन, यह विशालता का दर्शन, यह दाम का भाव, यह ज्ञान, कर्म, शील और समन्वय का जीवन सभी कुछ तो भर दिया है अपने पुत्रों में। कण भर में नहीं ही गया है यह। सतत संघात के परिणामस्वरूप, जो सहजों वर्ष से चलता चला आया यह जीवन-वर्षम मातृ-भूमि में प्राप्त किया है समाज ने। एक जीवन की अपूर्व और अनूठी, परन्तु पूर्ण शैली उपलब्ध की है उसने, जो अहंरती हुई ममत्त्व के धटक-धटक में बहती है।

यो तो सम्पूर्ण जीवन का प्रवाह ही कल्याणप्रद है और है पावन, परन्तु वह स्थल और भी पावन बन गया है जहाँ पर जीवन-शैली अपनी ममग्रता में, आचरण में उतर आयी है। अनादि काल से चलते चले आये इस प्रवाह के बड़े स्थल जहाँ राम, जहाँ कृष्ण, जहाँ गौतम, जहाँ गाँधी आचरण के साकार स्वरूप बन प्रकटे हैं, भला कैसे भुलाये जा सकते हैं? गंगा का जल सर्वत्र पवित्र है और है गुणों से भरपूर पर हृदय और प्रयाग का स्वरूप ही कुछ और है। कल-कल करने, बहते इस समाज के प्रवाह से ही यह पूष्य अस्तित्व उभरे हैं, जिसके चरणों में हम नत है और जिसके प्रकाश में हम अंधरा पथ पाते हैं। राम और कृष्ण, गौतम और गाँधी के



साध-माध ही हम अपने प्रवाह की भी झूलते नहीं, उसका वन्दन करते हैं। और रखने है सदैव उनका स्मरण।

प्रवाह ही न रुक तो हम कहीं होंगे ? इसलिए हम प्रवाह का रक्षण और सम्बर्द्धन तो चलता ही है। अभी तक किसी के रोके यह रुका नहीं। आक्रमण की आँघ्रियाँ आयी, मकड़ों के बादन गरजे और धरमे, राजनीति पैनी जालें चली, मजहब और रेलीजन के विश्वेने नीर चले परन्तु वाह रे प्रवाह, कभी अवरुद्ध न हुआ। हो भी कैसे। पुरुष ने नहीं प्रकृति ने चलाया है इसे। रोम गया, भिक्ष मिटा, यूनान न रहा परन्तु भारत का पुण्य प्रवाह चलता है, चलेगा। कभी शक्राये, तो कभी डूग, परन्तु गंगा के पावन प्रवाह मे मित प्रवाह के अंग बन गये। मुसलमान आये, अंग्रेज आये सत्ता पर बैठे परन्तु समाज पर कभी बैठ न सके। सत्ता हारी, समाज कभी न हारा। मूर, जीने की ललक ने, समाज मे आया तो तुलसी जीने की कला दे समाज को सजीवनी दे गया। राणा संकल्प ले उतरा तो शिवा कौशल दे, समाज मे शक्ति भर गया। बन्दा इतिहास मिटा गया तो बच्चे गुरु भोविन्द सिंह के दीवाने मे चुनकर, इस प्रवाह के लिए जीवन का अर्थ बता गये। कितना ही बाँधा, पर प्रवाह न रुका। जनेऊ नेनु लार्जे गिरी, मन्दिर टूटे, महल लुटे, सिंहासन छिने, सम्मान गया, सब-कुछ लुटा, पर प्रवाह न रुका, न रुका। चल रहा है, चलता रहेगा।

प्रवाह धरती के कोने-कोने में चल रहा है। प्रत्येक पक्ष में, जीवन के, चल रहा है। साहित्य हो या संगीत, भक्ति हो या हो दैनिक आचरण, उद्योग हो या हो युद्ध, सर्वत्र पक्ष अहं प्रवाह की फैली है। साहित्य की पंक्ति-पंक्ति इस प्रवाह के सुर मे बोलनी है। मूर हो, तुलसी हो, मीराँ हो, केशव हो, बिहारी हो या हो आष के निराला, मन्नादेवी और दिनकर, सब यही तो गाते हैं। संगीत आनंद तो भरता ही है पर गौरी की छाप बिना छोडे कहीं रहता। पश्चिम की लच्छूँखलता, उन्मुक्तता और पशुता हममे कैसे बैठ सकती है? भक्ति की तो हर डगर और हर आँगन ही इस भारतीय प्रवाह के सुगन्धित है। रामभक्त का मन्दिर हो, या कृष्णभक्त का आँगन, शकर का शिवालय हो या कबीर का मठ, जैन का मन्दिर हो या बुद्ध का बिहार-सभी स्वलो पर निर्माण के स्वर है। प्रातःकाल मे लेकर राति तक वास्था और विश्वास के ही चरण हैं। उठते ही माँ की धरती के चरण छू भक्त माँ का या उठता है-सभुद्र वसन देवी, पर्यस्तन मण्डने, बिष्णु पत्नी समस्तुभयम्, पाद-स्पर्श धमस्व मे। रात्रि को भगवान् का स्मरण करता हुआ जाता है निद्रा की गोद मे। उद्योग चलने है, परन्तु पथ है अपना। यहाँ वही बनता है, वही चलता है, जो मानव-हित मे है। दृष्टि वही रटती है अपनी सधाज-हित की। यदि ऐसा नहीं-

तो समाज शिक्षारता है। युद्ध जब होता है, तो धर्म की कसौटी पर। रास का कान तो था ही आदर्शों, जहाँ राम-भा शत्रु मिले रावण को। मृत्यु पाकर भी रावण घबरा ही गया। कृष्ण का काल भी धर्म की भूमि पर लड़े जाने वाले युद्ध का काल रहा। परन्तु वर्तमान में भी दिशा नहीं बदली। जीवन की दृष्टि हर क्षेत्र में उभरती है।

समय के परिवर्तनों ने प्रवाह को मँज्रा तो है, परन्तु बदला नहीं। मूल सदा बना रहा। यह तो अक्षर का विकास है, अन्तश्चेतना है जो सब में मवत्र समायी है। तभी तो समाजवाद का गान करने वाले, विदेश की धरती से विद्या लेने वाले पंडित नेहरू कभी भी अपनी धरती और अपनी दिशा को भूल न सके। गीता उनका साथी रहा और मरते समय माँ गंगा को भूल न सके। वह गंगा की कोंख से जन्मे और गंगा की गोद में विलीन हो गये। ऊँचे स्वर में समाजवाद का स्वर थलापने वाले राजनारायण, मंत्री बनते ही हनुमान् बन गये। हनुमान् चालीसा चिकित्सालय-चिकित्सालय पढ़वा दिया। विदेश की धरती पर नृत्य का निमन्त्रण पाते ही, श्रीमती इन्दिरा प्रदर्शन के लिए इन्कार कर बैठी, यह कह कि भारतीय संस्कृति नहीं है यह। विदेश के चिन्तन और विदेश के जीवन का लबाड़ा लेने से, कही अपने जीवन की तरंग समाप्त हो सकती है। नहीं ! नहीं !! कभी नहीं !!! हाँ, विकृति अवश्य ला सकती है, अपना प्रवाह अवश्य धीमा कर सकती है। इसलिए चर्चे, बड़े हम अपने पुण्य प्रवाह में, अमर प्रवाह में, ममता प्रवाह में और दें सभी को जीवन का अमर मन्त्रेण। चलता रहे पुण्य प्रवाह हमारा।

कर्म की भागीरथी

भागीरथी वहती है, बड़ती धारा है और बहती रहेगी। कल-कल करने मन्वन्तै-कूबते इनके जलविन्दु, पाषाणों की छाती पर छेकते उसे गँदते और तोड़ने, वेदाओं की खुली गोठ में अँगड़ाहियाँ लेते, बहते बने जाते हैं, विराट् मातर में विलीन होने। न रुके हैं और न रुकेंगे। गये तो गये। परन्तु प्रवाह नहीं गया, बेग नहीं गया, प्रभाव नहीं गया। बड़ी है धारा अही है सातत्य और यही है उमका कल्याणकारी स्वरूप। कर्म की डगर पर चले चरण किमी के धामे न थके। इमी कर्म से तो विन्दु-विन्दु को पावग बना दिया, पूष्य बना दिया। शब्द भावना से भिक्त स्वरूप भागीरथी का, इसी प्रवाह के हाथों ही तो बसा और गँवरा है। जिसके दर्शन, भजन और पान की तो बात ही क्या, मात्र स्मरण ही मन से ममस्त कनुष धो डालता है। हो भी क्यों न। विन्दु-विन्दु जो भागीरथी का, मन्त्र और सदैव, ही भागीरथी के गुणों में बरा है जो। हरद्वार का जल हो या हो प्रयाग का, पाटलिपुत्र का जल हो या हो गंगा-मातर का, गंगाजल है, भागीरथी का जल है। कमडलु में रखा हो या लोटे में, गिलास में रखा हो या बाल्टी में, वह पवित्र गंगालाल ही है। उसमें यही गुण है, यही स्वभाव है, यही जीवन है।

प्रवाह के पथ पर उमड जल का जीवन स्वयं तो सार्थक हुआ ही, ममष्टि सागर में स्वयं को, कर्म की साधना करके-करते विलीन कर, स्वयं तो धन्य हुआ तो अपने पवित्र आचरण का दर्शन करा समाज को भी धन्य कर दिया। अहित किसी का नहीं, बस हित-ही-हित सबका, यही तो आचरण रहा है उसका। अपना स्वभाव से, अपने पथ पर, अपने लक्ष्य की ओर बहते जाना, बढ़ते जाना कही तकता नहीं, थमसा नहीं और अपने लक्ष्य में जा विलीन हो जाना। कैसा संकल्प और कैसी साधना। यही तो जीवन है। शकने का नाम जीवन नहीं, बैठने का नाम जीवन नहीं, रीते और निराश होने का नाम जीवन नहीं। जीवन तो कर्म की भागीरथी है।

भारत की धूमि कर्म की भूमि है, धर्म की भूमि है। इसके जीवन का प्रवाह, भागीरथी का पूष्य प्रवाह है। सबका हित भागीरथी की भावना है, तो सबका कल्याण भारत की साधना है। भारत की साधना का पग-पग धर्म के छगटल पर टिका है। यहाँ कर्म का कोई हाथ, धर्म की खजा बिना, उठा नहीं। यही पावन

कर्म का हाथ है, जिसने ब्रह्मरथ के पुत्र राम को भयवान् राम बना दिया, वही पवित्र कर्म का हाथ है जिसने अँधेरे में जन्मे कन्हैया को प्रकाश का प्रखर पूजक बना भगवान् कृष्ण बना दिया, यही तीसरा कर्म का हाथ है जिसने सामान्य शक तरेन्द्र को विश्वविख्यात ग्वाभी त्रिकलासुर बना दिया और यही तीसरा कर्म का हाथ है, जिसने सामान्य बुद्धि वाले सोलदास को महात्मा गांधी और बापू बना दिया। बस कर्म चले, धर्म की बगल पर।

धर्म की बगल में हटे, तो धारणा कैसी? धारणा ही, इसलिए स्वयं चाहिये। पुरुष हो, पशु की जगल चले, फिर कल्याण कहीं? 'स्व' चाहिये। माँ भारत का पुत्र, माँ भारत के गुणों से युक्त चाहिये, गंगा का जल, माँ गंगा के गुणों से युक्त चाहिये। जिसने भारत का स्वत्व गहरी, वह भारत का पुत्र कहीं? जिसने गंगा के गुण गहरी, वह गंगाजल कहीं? कर्म पर चले ब्रह्म का स्वत्व चाहिये। भारत का चरण है तो महात्मा की अहिंसा और हिंसाहीन उच्चता चाहिये, गंगा की पवित्रता और नर्मदा की धवलता चाहिये, मध्य का गद्य और कश्मीर की सुन्दरता चाहिये, वन की बुद्धि और जलधर की कर्मयोग्यता चाहिये, चाहिये उनमें बसा भारत की धरती का कण-कण, चाहिये उसमें बसा भारत के इतिहास का कण-कण और चाहिये उसमें रमा राष्ट्र चेतना का प्रति चरण। लगे वह भारत का जल है, लगे वह भारत की माता का स्पर्शन है, लगे वह देश का भव्य रूप है। निश्चय ही सब उसका पथ है। निम्न और विकृत का पथ नहीं, राम का पथ होगा, कृष्ण का पथ होगा, गांधी का पथ होगा।

राम राष्ट्र का चैतन्य ले प्रकटे, तभी तीसरा कर्म। राष्ट्र की एकता, राष्ट्र की अखण्डता, राष्ट्र की सम्पन्नता, राष्ट्र की अथिता, उनका कर्म के अन्तर्गत लगे हैं, पवित्र संकल्प बन लुञ्जरी। संकल्प, उनके आचरण से पूर्ण हुआ। बस माह अखण्ड और एक, सम्पन्न और नेक। कृष्ण की काया में, माटों भारत की, विश्व संदेश बन बोल उठी। बस यही कर्म को विरलत गायरा। वही पावन गिरा-गीतभी गांधी चला, तीसरा का सम्पूर्ण 'स्व' ही उसमें चिरक उठा। गीता, गांधी, गंगा और गी उसके जीवन के आधार बने। कर्म, ज्ञान, समन्वय और शील उन्हीं कभी हुए न हुए। यही तीसरे राष्ट्र की चेतना। इती चेतना ही के तो हैं, इन सभी प्रकट बस। कर्म पर बड़े परगु इस चेतना को लेकर। इस चेतना के बन्कन। इस चेतना के होकर।

चेतना को आय, लो गति कैसी, प्रगति कैसी? धारा में लगे हो जब कि जीवन कैसा? भले ही क्यों न बगा जल हो। गंगाजली में रक्षा गंगा जल है ही गंगा जल और है पावन, परन्तु गंगा का कर्म कहीं? वह चट्टानों को तोड़, पथ

को बहा, धपड़ो में फाट-छाँट अंकर करी बटिया बना, उन्हें पूज्य बदाने का धर्म कहाँ ? बटानो की छाती फाड़ धाटियाँ बना, गैदानो की छाती पर विहर हरियाणो विद्या और तटी पर हहरने हुए जलधि से उर मिला, आनन्द की अमृत्युति का फिन् मर्म कहाँ ? हिमाद्रि की सिन्धु से मिलाते, तपती घरा की प्यास बुझाने, घरा के पुत्रो को जीवन जुटाने, उन्हें उबारने और तारने का मुख और मंतीष फिर कहाँ ? इसलिये गंगाजली से नहीं, गंगा में जल चाहिये, जल में धार चाहिये, धार में कर्म चाहिये, मर्म चाहिये और चाहिये, वह साधना जो उसे पागत बना सके, पूज्य बना सके !

निष्क्रियता कभी पूज्य नहीं । क्रिती ही श्रेष्ठ क्यों न हो चेतना, निष्क्रिय रही, तो निष्फल । सामर्थ्य का अर्थ ही क्या, यदि प्रयुक्त न हुई । विद्वता का लाभ ही क्या, यदि काम न आयी । सक्रियता चाहिये स्वभाव के अनुकूल । सिद्ध में योद्धा की सक्रियता, हंस में कौए की सक्रियता, पुष्प में पशु की सक्रियता, न शोभित है और न है उचित । यह विद्वानि है और है विनाश की वाहिका । व्यक्ति है तो काया अपना कार्य करे, मस्तिष्क अपना काम करे, हृदय अपने डग पर चले, मन अपने पथ पर बड़े, आत्मा अपनी यात्रा समझे और समाज के प्रतिनिधि तथा घटक के तले व्यक्ति की यह इकाई समाज को माधे और खिमे । इसलिये चाहिये काया में शक्ति, मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में शील, मन में संकल्प और आत्मा में बल । चले, यदन्तु समाज को साथ लेकर । मन में, जन में, जीवन में । समाज-हित चिन्तन नदें, समाज के भोग माध रहे और वह जीवन समाज-हित समर्पण में धरा रहे ।

समाज का कोना-कोना सम्पर्क की परिधि में समा जाय । पर्वतो को कन्दराओ से लेकर घन बहिर्द्वों की अगम्य दुरियो तक सम्पर्क की स्नेहित स्तब्ध मले । समान रूप से सब पर शील बरसता चला जाय । नगर-नगर, गाँव-गाँव, सम्पर्क शूष में बँधता चला जाय । जो मिले, जैसा मिले, साथ ले चले । प्रवाह में अपने बर्षों, माने, संवारें । ककर से ककर करें । संस्कार का अवाधित प्रवाह चलता रहे, चलता रहे और ककर भी पशुन प्रवाह का अंध बन बह सके । संस्कार की गोर में जाते ही, समस्त कलुष धूल जाय, विकृति विनष्ट हो जाय और बन जाय संस्कार प्रवाहिनी धारा का लभिन्न अंग । गंगा में किन्हीं नाले मिले, नदियाँ मिली, पर घने सब पावन गंगा । यह है सामर्थ्य संस्कार प्रवाहिनी शारीरधी का । सम्पर्क में जाया और संस्कार की छाँह मिली । साथ चला और बन गया अंग अपना । धही है पथ, यही है दुष्ट और यही है लक्ष्य ।

कर्म के प्रवाह में बढ़ते-बढ़ते स्वयं तो समर्थ बनता ही है, साथ में बढ़ते वालो को भी समर्थ करता है । सतत मघान की प्रक्रिया क्रिती सशम है और है

कितनी पावन । कोई द्रुति नहीं, कोई दोष नहीं, कोई कमी नहीं । इस प्रक्रिया में पलते और ढलते, बन जाता है एक दिन, वह रूप, जिसका मात्र स्मरण ही समाज में संस्कार की धारा बहा देता है । राम के चरित्र का स्मरण, यह वेगवती धारा का प्रवाह नहीं तो और क्या है ? पंथ और मत, मजहब और रीतोजन, वग और जाति सब दूर, दौड़ जा रहे हैं भगवान् राम के दर्शन करने, उनके पावन चरित्र को देखने । क्यों उमड़ती है यह श्रद्धा ? क्यों उमड़ती है यह भक्ति ? समाज ही समर्पित मानव-विक्षात के सर्वोच्च शिक्षर हैं जो न ! कर्म की डगर का यही गन्तव्य है ।

आचरण के चरण चलते-चलते, चिन्तन को सगुण स्वरूप में ढाल देते हैं भारत का पवित्र और पूर्ण चिन्तन राम बन सामने खिरक उठना है । कैसा ह बचपन, कैसी हो जघानी, कैसा हो बुढ़ापा, सोचने की आवश्यकता नहीं, साम राम का आदर्श जो है न । कर्म के क्षेत्र का कोना-कोना, जीवन में उतर आया है कुछ भी तो छूटा नहीं । चिन्तन, आचरण में उतरा, आचरण आदर्श बना, आर्श को मिला पूर्ण समर्थन और समर्थन सफलता को चरणों में ला डालने में बना सपर्य। व्यर्थ है वह चिन्तन, जिसे आचरण के चरण न मिल्ने, व्यर्थ है वह आचरण का आदर्श की ऊँचाइयाँ न छुए, व्यर्थ है वह आदर्श जिसे देख समर्थन न उमड़ पड़ और व्यर्थ है वह समर्थन जो सफलता को चरणों में लाकर न डाले व । कर्म पर निकले चरण को रकना नहीं, धमना नहीं, बढ़ते रहना है जब तक कि प्राप्तव्य स्वय नहीं आ जाता । कर्म की धारा का घटक होने से लेकर, सामर्थ्य के पूर्ण विकास का प्राप्त कर, अधिकारी स्थिति तक, बढ़ते ही रहना है ।

धारा के घटक बन, उसका समस्त लक्षणों का अपने में ले, जब हम निकलते हैं, सहज ही सदस्य बन जाते हैं उस धारा के । धारा का बोध हमसे प्रकृत ही है । परन्तु धारा के वेग का स्वरूप जब हममें नतन कर उठता है, कर कर्म में लीन हो जाते हैं, चरण पग पर बढ़ आते हैं, मस्तिष्क चिन्तन में रत हो जाता है, हृदय ध्यान से निकल पड़ता है और मकलर छेद को पकड़ने के लिए मचल उठता है, तब कार्य का रूप सामने साकार होता है । कार्यकर्ता होते हैं हम । ज्ञान राम चन्ता है, शक्ति पग-पग पर बढ़ती है, शील प्रतिक्षण उमड़ता है, मकल्प दृढ होता है और सगठन बनता है सफलता का वाहक । कर्म की डगर पर चलते-चलते विकास की उन ऊँचाइयों पर पहुँच जाते हैं हम, जिन्हें देखकर ही सामान्य जन प्रेरण से भर उठते हैं । इन्हीं ऊँचाइयों पर विराजमान है विवेकानन्द, इन्हीं ऊँचाइयों पर आनीन हैं गांधी, इन्हीं ऊँचाइयों पर बैठे हैं डॉ० हेडगेवार, इन्हीं ऊँचाइयों पर स्थित है गोलवलकर और इन्हीं ऊँचाइयों पर पहुँचे हैं दीनदयाल । यही है अधिकारी स्थिति ।

कर्म की भागीरथी प्रदूषित हो गयी है, अर्थात् । भागीरथी में अपने अस्तित्व का समर्पित कर, कर्म के पावन प्रवाह में बहने की बात आज कहाँ ? 'स्व' को समर्पित में विलीन कर, वहाँ से बंध बनने की कामना अब कहाँ ? पापानो को भी अपने स्नेह-भरे संघातो से रगड़ शंकर बना बालने की भावना अब कहाँ ? अब तो है बस, भागीरथी का अंग स्वयं को घोषित कर, स्वार्थ की ऊँची-से-ऊँची चोटी पर जा बैठने की होड़ ! है केवल समष्टि के नाम पर, सनष्टि का दोहन और शोषण कर अह की चरम संतुष्टि ! चल रही है अब समाज को सस्कार देने के नाम पर, स्वयं को विकार से भर देने की वृत्ति । संगठन को मीठी बना, ऊपर और ऊपर बढ़ते जाना तो सीखा है परन्तु सगठन के लिए, समाज के लिए, समर्पित हो तिल-तिल गलना नहीं । तभी भागीरथी का प्रवाह थम रहा है, वैशिष्ट्य खो रहा है, सामर्थ्य क्षीण हो रहा है और पाविष्य हो रहा है लुप्त ।

स्वार्थ और भोग के घिनोने घरोदो से घसीटकर, प्रवाह को अपने तटों पर लाना ही होगा । उन तटों पर जहाँ पवित्रता वास करती है, जहाँ सामर्थ्य निवास करती है और जहाँ संस्कार की ध्वनि आज भी गूँजती है । भागीरथी के भक्त, मद् छोड़ निकल पड़े माँ गंगा को उमका प्रवाह और वेग प्रदान करने । कर दें अपने श्रम की पराकृष्ठा, कर दें अपने समर्पण की इति और होम दें अपना सर्वस्व । इतना तीव्र और इतना सशक्त कर दें प्रवाह कि, प्रवाह में पड़ने वाले गन्दे-से-गन्दे नाले भी अपना स्वरूप खो, भागीरथी के प्रवाह बन जायें । स्वार्थ सेवा से ढल जायें, जहाँ वय में लीन हो जायें, और विकार सस्कार बन चमक उठें ।



उत्तर की प्रतीक्षा में तेरी माँ या भारत माँ का पत्र अपने बेटे के नाम

मेरे लाल,

आज बरमाते आसमान के तले तपन तपने-से तपते खेत के बीच बड़े-बड़े बैल और चीहारे पर अपना फावड़ा उठाये, रक्त के कण-कण का पसीना बना, साठी की सींचता खड़ा तू, नरजते-नारजने-बरसते कालि-कालि भयानक बादलों के बीच, अरती पर बने अँधे-अँधे भयन के कंगूरे पर, छोनी और हूयीडा लिये, चढ़ा अकेला तू, पाषाणों की छापी को खँपाती, हिमशीतल तुफानी हवाओं के बीच, अपने रक्त और पौष की ज्यस्त लिये शत्रुओं के सामने सींग तान मित्र-या तत्वकारता डटा तू, प्रातःकाल से आया कर्म की कुर्सी पर कलम लिये, १२ 'बजे रात्रि तक कागजों पर, आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनाता बैठा तू, जायेशी का पालन करने और पालन कराने के पाठों के बीच फँसा, न्यद की धूला, घन बन सँ का, पृथ के तब निकला तो परशु डमक जाते पर गया नहीं, जुटा पडा है, समस्याओं के अन्धारे में समाधान खोजता तू, हाथ उठा-उठा कर, अपने मत की मुहूर लगा-लगाकर यह-पत्र पर, रात्रि के अन्धे गलियारे में, प्रकाश के राजपथ पर बने संसद् भवन में, भूष और संघ को, माननीय गंगाराम व माननीय अगाराज बना बिटाते आला, फूट घर और टूटे छपर के नीचे सदियों में टिडुरता नये बदन, मुखे घंट, खुकी आँखें लये पडा तू, जलनठ और दिल्ली के तम्न पर, देश और समाज का सम्हालन, जन-जन के प्यार-भरे निश्कासों से पीजा तथा मेरा स्वतंत्रता के लिए मीने पर गाँवों की बोझारे झेजने वाले, फौजी का फन्दा चूमने वाले, तिल-तिल कर एक जाने वाले, स्व-मुड अपना स्वाहा कर, बस मेरे लिये हो जीने वाले, बेटे का लाडली संतान, मेरे नाम तू !

तू मेरा प्राण है। मेरा जीवन है। मेरी बचकन है। तरे बिना मैं कहाँ ? तेरे अन्तर ही तो बीटी जी रही हूँ मैं। देख नहीं रहे हो, यह मन्क तुम्हारा, मेरा हिमालय ही तो है। यही तो उलन बन चमक रहा है। फडकती हुई दावों और बायीं भुजाएँ दुम्हारी, ये मेरे पंजाब और अमान की पौष-मरी जजानी ही थी हैं, पर वे

गठे कैसे ? कटी जी है न । झकझक धड़कता हुआ और प्यार से मधुरता हुआ, तुम्हारा हृदय, यह भवघ घड़ी तो है, जहाँ का सरयू राम के स्नेह, शोक और क्रम में एगी तुम्हें जीवन दे रही है, हृदय पर सीमावर्त और लक्ष्यता को पही मानाएँ ये गंध और प्रभुता की पावन तरंगे ही तो हैं, जो लहराती और झूमती हैं, स्थिती कति तुम्हारी कुछ और नहीं बस मेरा विलयाचक्ष ही तो है जो शक्ति बन उठर गया है और तुम्हारी संघर्षों, मेरे प्यारे पच्छिमी और पूर्वी घाट के वसंत पावन स्वरूप ही तो है, चरणों में तेरे ननभूत नूरुर की ध्वनि करती, माधुर की लहरों का गति ही ता है । कण-कण मेरे लव का तुममें बैठा है । कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक जलनी मेरी यह काया तुममें, स्पर्शित है, तुममें जीवित है ।

काया ही नहीं काया का प्राण भी बैठा है, तुममें । लगता नहीं तुममें, मेरा वेतन्य, कहीं और किसकी गोद में जाने को मकलना है । गया तो था अमेरिका, हुआ भी था, रखा भी था, देखा था सब वैभव । फिर क्यों बिकल हो गया ? क्यों मेरी गोद में जहाज से कूब था गिरा ? क्यों मचलने लगे 'माँ' 'भाँ' मेरा कलमप टो डाल ? डसिलिए न कि तू मेरा लाल है । मेरे अंत्य को लेकर बना है तू । खोल, यह खोल, अद्वैतवाद यह एकान्तवाद यह समन्वय, यह शील, यह कर्म, यह ज्ञान, यह ममता, यह नमता यह बन्धन किससे सोचा है ? मेरे ही तो, तुममें अपने कोख से जन्म दे, तुममें यह चेतना धरी है । मैंने ही तो अपनी गोद में धार, अपने स्तन से बान्धन्य परे दूध के नाब तुममें यह शिक्षा दी है । मैंने ही तो अपने हाथों, अपने आंगन में, तुममें मेरे बड़े भाई राज और कृष्ण, राधा और गिधा, भाभी और गीतम अरविन्द और विवेकानन्द के साथ अंगुली पकड़, खिलाने-बिलाने यह जीवन की दृष्टि दी है । बाहर की किलारों से नहीं, मेरी घडकन में तुममें मिली है, यह समग्रता और सम्पन्नता की शक्ति ।

धूलता क्यों है मेरे अन्दर मेरे जीवन का सम्पूर्ण अनांत जैठा है । धर्म की इवजा कहुराता हुआ वह मेरे राम का प्रकाशवाच रूप अपने से दार । देख अपने में, तुममें का बनन करने वाला और संतो का रक्षण कर मुख का सागर हहराने वाले कृष्ण का सुरक्षन । अनुभव कर हृदय से शौर्य और स्वागिमान्य से भरा, शत्रुओं पर बज्र सम दार, जगता और गिधा का स्वरूप । समस्त अपने में बु खितों, पीठितों, अमहायों के अक्षि नोज्ञता और अहिता की खदूय है. मेरे लिये प्रकला शीतम और शशी का भव्य रूप । पर अपने में, मेरे लन के लिए, मेरे जीवन के लिए, मेरे सम्मान के लिए, प्रतिपक्ष, प्रतिपक्ष, गलता हुआ, फिर भी सम्मान से खीना लान, विवेक को चरणा पर झुकाने वाला पराक्रमी स्वरूप. विवेकानन्द का, अरविन्द का । कौल-सा कण मेरे जीवन का तुममें नहीं है । मेरा इई भी है, बुद्ध भी है और है मेरा आज्ञाद और सुख भी । सन्हाव इमे, यह तेरी वाली है । यही तो है तू ।

मेरा चिन्तन गहरी है। मेरा स्वर, मेरा ही तो स्वर है। यह भाषा, यह भाषा, सब-कुछ मेरा ही तो है। स्वर में कहीं सिंह की दहाड़, कहीं कोयल की कुं, कभी पक्षी की पी, कहीं मोर की कूक, कहीं कलकल भरने की, तो कहीं गणन मधी की। कहां ने भरी है? किसने बी है? ये आठ, ये सब मेरी माँ के वटा पर पकने वाली और तुमने उतरने वाली बोधिया हैं। क्या ईरात के जायेगा स्वर तुमने? या अरब के जायेगा ये बोध तुमने? जहाँ जैट-ही-कैट है, जहाँ जैट-ही-कैट है। 'वास्तविक सर्वभूतेषु तू ही कष्ट सकता है।' 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' तू ही माँ सजता है। 'धर्मज्ञैश्च कुटुम्बकम्' तू ही उच्छ्वासिन कर सकता है। जानता है क्यों? क्योंकि मेरी माँ पून है पवित्र है। उसका धर्म है सबको पालना, सबको प्रकाश देना।

मेरा जीवन चलने, इसलिए तुमने मिली है निगम-शीच, संतोष, सप, स्वाध्याय और ध्यान, समाज के साथ पने और समाज माये इसलिए मिले है यम-अहिंसा, सत्य, अमन्य, ब्रह्मचर्य और अग्रिमह। टकारी गहरी, मगपी जीवन। अग्रिम और अग्रिम। माय अर्थ ही नहीं, माय काम ही नहीं धर्म पर सधा अर्थ काम और मोक्ष भी। मग-कुछ तो ह। फिर उदाम क्यों? फिर निराश क्यों? फिर जिलारी क्यों? फिर अग्रिम क्यों? अग्रिमों और सुनियो का प्रकाश है, राम का आदर्श है, दोगे हाथ से उलीचतो मेरे लिए सम्पदा और अपना नजस्वन फाड उडेलती हुई अपना खानिय, मेरी माँ है, कण-कण पर अपने उभाली लटलहाती फामल, खड़ी है अवतरत मेरी माँ। फिर क्यों कठोरता से अडता है मोक्ष का दूसरे के द्वार पर? रक्षा के लिए क्यों भागता है मम और अमेरिका के पाम? संत और मज खोजने जाता है क्यों गैर के घर?

समझे समझे, तू भूल गया। तू अपने को भूल गया। तू बैठा नहीं रहा। तू बन गया वाटर, केवल वाटर। तेरे लिये मैं माँ न रही धन गयी धरती का टुकड़ा। तेरे शीम का माधन। तबही माँ में कठनी गये और तू जीवाली मनाता रहा। मैं रोती रहती और मू गहरी सम्भालता रहा। मैं मोह पर चीत का हथौड़ा फेंक लहनुवाले बनो और तू बन शतमा कह कि वहाँ घाम का सिक्का भी नहीं उगता, अपनी रन-रेलियो में खो गया। ये मूर्ख, तू अपनी माँ को काटने और बाटने में खो गया। यह रहा पार्किस्टान, यह रहा तालिस्तान, यह रहा कौरूल स्थान, अत रहा कौरुम स्थान, यह रहा चांग स्थान, यह रहा तमिल स्थान, यह रहा अंतुगु स्थान, फिर वॉल हिन्दुस्थान कहाँ है? अग्रम कहाँ है? तहाँ है मेरी माँ, लियकी भारत में कष्ट नफ बोधना है? कहाँ है मेरी माँ, जिनके लिये अन्धकारम् कह फांसी का फन्ना बुधना है? कहाँ है वह भारत, जिसके लिए सीने पर गोली उतारना है? सब है तेरे अन्धर का बैठा मद गया। शोषण पैदा हो गया, तुमने (अथ भी सम्भल समझ चुन भूखी की, उन दुष्टों को, जिन्होंने तेरे अन्धर से मेरा पुत्रत्व लो लिया और अर दिया तेरे अन्धर यह वैसाजिक भीम का भाव।

तू यह क्या कही किमान, वहाँ मजदूर, कहीं जवान, कहीं कर्मचारी, कहीं अधिकारी, कहीं मतदाता और कहीं नेता। वस बेटा नहीं रता बेटा, माँ का शाब्दिक बेटा होगा नहीं भाया। अरे बातने कर्म से कहीं जोख बैठती है। एक ही कोख में जाया है मैंने। एक ही रक्त है, एक ही मास है, एक ही जेवना है। मेरी ही गोद में बैठे हो, फिर कर्म करने मात्र से अन्तर जैसा ? कुछ भी करो, कहीं भी करो माँ के पुत्र बन जाओ। माँ के हो, तो माँ के गुण प्रकट करो। किनाम हों तो बनो बलराम, मजदूर हो तो बनो विश्वकर्मा, जवान हो तो बनो अश्विन, कर्मचारी हो तो बनो लकुल और महुदेव, अधिकारी हो तो बनो मृगायत मतदाता हों तो बनो रामदास और केजत, कार्यक्षेत्र हो राष्ट्र के तो बनो राजेंद्र-नयन राम। जिनकी स्मृति स्मृति में ही होती है, जिनके स्मरण में ही होती है, जिनके हाथों में कर्म बन में फूट पड़ती हैं, जिनमें महकें हैं, जिनमें सङ्ग हैं, जिनमें जीवन है। (समान रूप से, स्मृत हैं जिनके कण-कण में, सण-सण में)

यदि सबके मुँह में ही निकली यदि सबके चरणों में ही ही बनी, यदि सबके दिलों में ही ही छड़की, यदि सबके दिमागों में ही ही कौड़ी, तो फिर बेटे की कब ? कर्म की कब ? छोड़ो कब ? कर्मों नहीं। बनी चला। फिर तो दुर्भाग्य बन बंकिम की, सामने बसी क लकी हूँगी। कौन कह सकेगा मुझे जखला ? कौन गता सकेगा, जब मुझे ? मेरे तो कगड़ो दुःख है, करवाओ चरण हैं कगड़ो नपल है।

उर मन, जहाँ भी है, पुत्र उन पहले चमक, कर्म ही स्वतः निखर उठेगा। यकलता तो स्वयं चरण चूम लेगी। किनाम है तो रहलहाती, फूनती और फलती फलनों से मेरा प्रभार कर। मजदूर है तो पसीने की धम के कण-कण में भी निर्दोष के अक्षर खड़े कर, मुझे बसा, जवान है तो सीसा पर सचू के रक्त से मेरा अर्चन कर मुझे प्रसन्न बना। कर्मचारी है तो निष्ठा और लगन से, कर्म की कर्मों को पवित्र कर, मुझे हस्य बना। अधिकारी है तो आचरण से अपने आदेश के स्वर फुन्ने दे और जनता कर्मचारियों से सद्गुण ही प्रेमसना पालन करा, मुझे गर्वय कर। मतदाता है तो विवेक की गहरी खोज से, पुत्र को छूँद, जिससे वह नहीं लोक कोलता है, जिसमें वह नहीं लोक बनता है और कर मुझे आह्लाद से परिपूर्ण, यदि है राष्ट्र का कर्णधार तो, फिर पूछ कबो, बस राम-रा, पूष्य वापू का वाराध्य राम बन, कर दे मुझे जखण्ड, कर दे मुझे एक, कर दे सबको नेक, बरभा वे सुल, शान्ति, सत्यवता और सगमा से फिर से मेरी गोब, मेरे खाम क्या दे दु ल-वैदिक, वैदिक, भौतिक। तू जे उठे आकाश में जय हिन्दुस्तान।

को मानव ने भी अपने आचरण में उतारा। राजा रन्तिदेव कामना करते हैं कि भोक्ष नहीं चाहिए, चाहिए तो केवल दीन-दुःखियों के हृदय में प्रवेश कर, उनके दुःख-दर्द को ले लेना। हनुमान्-सा भक्त क्या चाहता है? सेवा, सेवा, केवल सेवा। समस्त सृष्टि को ईश्वर का ही रूप मान उसकी सेवा करना ही अभीष्ट है। इस समाज-निष्ठा का ही परिणाम है कि राम-राज्य में कभी दुःख, दैन्य नहीं। सभी समान रूप से सुखी है। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि दूसरे का हित साधन करना ही उसका सबसे बड़ा धर्म है। अपने लिये नहीं, समाज के लिए जीना ही श्रेष्ठ है। स्वामी विवेकानन्द, भारतीय समाज को ललकारते हुए कहते हैं “जब तक देश में एक कुत्ता भी भूखा है, तुम सुख की नींद कैसे सो सकते हो।” सम्पूर्ण समाज की चिन्ता, सजगता के साथ रखना प्रत्येक नागरिक का पावन दायित्व है। समाज के साथ, स्वयं का विकास हो, यह धारणा स्वस्थ धारणा है, परन्तु समाज के शोषण पर अपनी सुख की अट्टालिका खड़ी हो, तो यह घृणित, निकृष्ट और पापयुक्त कल्पना है। न शोषण करे, न शोषण होने दे, न भेदभाव करे, न भेदभाव होने दे। पूज्य वापू के स्वप्नों का भारत, यही रूप रखता है। व्यक्ति समाज निर्माण के लिए धरती पर आया है, समाज-विनाश के लिए नहीं। प्रकृति में सृजन के स्वर हैं, संघर्ष का अट्टहास नहीं। बीज वृक्ष के रूप में संघर्ष के लिए नहीं, अपने ‘स्व’ के साक्षात्कार के लिए प्रकट होता है। उसके जीवन का उद्देश्य किसी का विनाश नहीं, वरन् किसी के लिए अपने को समर्पित कर देना है। सम्पूर्ण सृष्टि एक-दूसरे को सहयोग देती हुई चल रही है। इसका आधार संघर्ष नहीं, सहयोग है। शोषण और संघर्ष पर सभ्यता नहीं खड़ी, सभ्यता सहयोग के धरातल पर खड़ी है। विकृतियाँ आयीं और गयीं, परन्तु मूल धारा लोकचेतना की, कभी विलीन नहीं हुई। पच्छिम भी इस पवित्र धारा से वंचित नहीं रहा। व्यक्ति के स्वभाव में समाज बसता है। व्यक्ति का ही विकास तो परिवार है और परिवार का व्यापक रूप राज्य। सामाजिक चेतना की सीढ़ी पर चढ़ता हुआ समाज सभ्यता का सूर्य बन चमकता है।

आर्थिक जीवन में लोकचिन्तन

साधन बिना, साधना अधूरी है। साधनों का अम्बार प्रकृति ने पुरुष के चरणों पर इसीलिए बिखेर दिया। वक्ष फाड़ धरती ने, सोना, चाँदी, जवाहरात, मानव की गोंद में भर दिये। पटल पर लहलहाते पौधों ने धान्य से कोठों को पाट दिया। वृक्षों ने अपने फलों से मानव के हाथ भर दिये। लक्ष्मी उसके पास बिराजने लगी। बात अलग रही, वह लक्ष्मी वाहन बने या कि लक्ष्मीपति। लक्ष्मी के संकेतों पर वृत्त्य करे, या कि लक्ष्मी को दिशा दे। लक्ष्मी लाने का मंत्र उसे मिला, भारत की धरती से—‘कराग्रि बसते लक्ष्मी।’ हाथ के आगे लक्ष्मी बास करती है। परि-

श्रम करो, लक्ष्मी मिलेगी। परन्तु, भारत की दिशा यहीं नहीं रुकी, सावधान किदा उम्मेने 'कर मध्ये सरस्वती।' ज्ञान की आवश्यकता है। विवेक चाहिए। विवेक न रहा तो जिन डाल पर बँठे हो वही काट डालोगे। और अन्त में दिया भारत ने लक्ष्मी का लक्ष्य। सावधान, लक्ष्मी तुम्हारी नहीं। 'कर मूले तु गोविन्दः।' मूल में गोविन्द है। गोविन्द को समर्पित होता चाहिए। नित्य गाते है 'तेरा नुरुकी अर्पण व्दा, लोग मोरा' और नित्य उच्चारण करते हैं 'इदं न मम' परन्तु दुर्भाग्य है, करते हैं उच्चारण करते हैं, करते नहीं। व्यक्ति के जीने के लिए, समाज में बने रहने के लिए, समाज बनाये रखने के लिए और अन्त में अपने साध्य की उपलब्धि के लिए, रास्ता मिला। रास्ते को हमने पुष्टपार्थ चतुष्टय में ढाल दिया। धर्म सर्वत्र हमारा नियन्त्रिता बना। लोक की बात हो या परलोक की। "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर संयम रखने को प्रोत्साहित करती है और सम्पन्न भौतिक जीवन का उपभोग करते हुए भी देवी तत्त्व अथवा शश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करती है। अभ्युदय के लिए अर्थ आया, परन्तु उन्मुक्त नहीं। लगाम अर्थ के घोड़े की, धर्म के हाथों रही। अर्थ का उत्पादन धर्माधारित हो, उपभोग धर्माधारित हो, उत्तरी व्यवस्था धर्माधारित हो। अर्थ का धरा पर कोई अभाव नहीं, परन्तु धरा का पुत्र 'मानव' अर्थ के प्रभाव में 'पशु' न बन जाय। अर्थ का अभाव तो न खटके, परन्तु प्रभाव भी न, मज बन बहके। भाव ही रहे। कामनाएँ संतुष्ट हों, इसलिए अर्थ का साधन, न कि साधक ही नष्ट हो जाय इसलिए अर्थ का माध्यम। साधक के लिए साधन आवश्यक है। बिना साधक के, कामनाएँ जाती है और अतृप्त, आकाश में विलीन हो जाती है—

“उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।”

निर्धनों और दुबंदों की इच्छाएँ हवा में महल बनाने के समान हैं। इसलिए अर्थ सदैव, साधक के साथ जुड़ा। भौतिकवादी युग में तो अर्थ ही सर्वस्व बन गया, परन्तु 'ब्रह्म सत्य है जगत्मिथ्या' कहने वाले भी 'अर्थ' से भाग न पाये। उपनिषद्-कार ने बीजरूप से 'अन्न वै ब्रह्म' कहकर इस जगत् को उपास्य से जोड़ा है और जगत् की कल्पना को माया का खेल चाहे वेदान्ती मान लें किन्तु कबिरा का सत्य जग उजागर है—

“न कछु देखा ज्ञान ध्यान में, ना कछु देखा पोथी में।

कहत कबीर मुनौ भई साधौ, जो देखा दो रोटी में॥”

अर्थ या रोटी जीवन का आधार है। जगत् कभी अर्थ से शून्य नहीं रहा। पच्छिम के समस्त वाद, आज अर्थ के ही चारों ओर घूमते हैं। पूँजीवाद ही या

साम्यवाद। कोई संचय का, तो कोई वितरण का मंत्र साधे है। इस सर्वव्यापी अर्थ-चिन्तन को, यों ही नहीं छोड़ा जा सकता। इसे दिशा की लगाम चाहिए। भारत ने यह कार्य किया। व्यक्ति साधना को समष्टि के चरणों पर समर्पित किया है। 'अहं' को 'वयं' में मिलाया है। वैदिक अर्थ नीति का मूलाधार एवं प्रयोजन वैयक्तिक उन्नति एवं समृद्धि न होकर समस्त विश्व का कल्याण ही है। ब्रह्मा से न्याकर जैमिनि ऋषि पर्यन्त एवं उसके बाद ऋषि दयानन्द तक सभी ने वैयक्तिक मोक्ष को ध्येय न मानकर मानवता के त्राता के रूप में ही अपना जीवन व्यतीत किया। स्वामी विवेकानन्द, इसी समाज के लिए जिये। समाज के लिए समर्पण 'यज्ञ' है। यज्ञ द्वारा सर्वस्व का त्याग हर्षवर्धन के आचरण में देखने को मिल जाता है। कमाओ सैकड़ों हाथों से, परन्तु सहस्रों हाथों से बाँट दो। बाँटो परन्तु छीनो मत। स्वयमेव, समाज के लिए, अर्थ समर्पित होना चाहिए। भारतीय समाज में, समाज संचालन के लिए, पूर्ण व्यवस्था रही है। गृहजन बिना अर्थ लिये विद्या दान दें, राजा अपने सुख की चिन्ता न कर प्रजा का रंजन करें, व्यापारी अर्थ का अर्जन कर समाज का पोषण करें और जो अधिक महत्त्व का कार्य नहीं कर सकते के दूसरों की सेवा करते हुए जीवन व्यतीत करें। अर्थ का साम्राज्य समाज पर न छोले दें। उपभोग की वृत्ति न जगायें, अपनी व्यवस्था के लिए अर्थ चाहें। अधिकाधिक उपभोग, संग्रह के लिए प्रेरित करता है और संग्रह का प्रयास संघर्ष को जन्म देता है। उपभोग कामना की तुष्टि नहीं, कामना की वृद्धि करता है। इसलिए नियंत्रण कामनाओं पर चाहिए। अपनी कामनाएं नियंत्रित करें, दूसरों की आवश्यकताएँ पूर्ण करें।

भारत में गृहस्थ के लिए नियम है कि वह सेवकों को प्रथम भोजन कराये फिर स्वयं भोजन करें। वही वास्तव में जीवित है जो एक होने पर भी बहुतों का पालन करता है। अन्य पुरुष तो केवल अपना पेट भरते हैं, जो जीवित ही मृतक के समान हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लेख है कि प्रजा यदि भिक्षा माँगने लगनी है तो राजा का नाश हो जाता है। राजा तो पिता के समान प्रजा का पालन करता है।

भारत की प्रकृति, दान की प्रकृति है। समाज उदारतापूर्वक देता है। अर्थ की कौन कहे, अपनी हड्डियाँ तक दान दी हैं। मनुष्य को ही नहीं, कौओं और सर्पों को भी खिलाया है। समाज के लिए और अपनी को खिलाने-पिलाने की वृत्ति ही, समाज को साधे रही, परिवार बनाये रही। पच्छिम की हवा, स्वार्थ की आयी, तो परिवार टूटने लगे। निर्बल और निर्धन समाज के रक्त पर, वैभव के भवन खड़े होने लगे। देखकर, गांधी, रो दिया। १९१६ में दरभंगा के महाराज पर रामेश्वर सिंह को लताड़ दिया, गहनों की प्रदर्शनी मत लगाओ, यह तो गरीबों

की धरोहर है, उनका कल्याण करो। किसी देश की सुव्यवस्था की पहचान यह नहीं है कि कितने लखपति रहते हैं, परन्तु यह है कि समाज में कोई भूखों तो नहीं मर रहा है। जिनके सामने रोटी-रोजी का सवाल है, जिन्हें न रहने के लिए भूखाना है, न तन ढँकने के लिए कपड़ा, अपने मैले-कुर्बिले बच्चों के बीच, आज दम डोढ़ रहे हैं, इनको सम्पन्न व सुखी बनाना हमारा व्रत है। परन्तु आज कितने हैं जो यह व्रत लेते हैं। सोचने की बात है। देशभक्ति का नाम लेकर, लखनऊ और दिल्ली के मन्दिरों में बैठे ये बगुलाभगत, कितने असहायों के आँसुओं और रक्त-मांस से अपने भोग का वँगला बनाते हैं।

राजनीतिक जीवन में लोकचिन्तन

राजनीति लोक की कोख से, व्यवस्था के लिए, उपजी एक धारा है। धारा जो अपने, न्याय में पगे, सर्वहित में सने, लोक-उत्कर्ष के लिए, पावन संपर्क से जन-जन को जोड़ती है। बिखराव को बाँधती है, अव्यवस्था को व्यवस्था देती है और विकृति को संस्कृति की ओर मोड़ती है। स्वार्थ भावना से लिप्त व्यक्ति, पशु बन, जब समाज का शोषण करता है, पशुता पर राजनीति का नियंत्रण, विनाश-वोध कराता है। राजनीति लोक-निर्माण के लिए चली, लोक-विनाश के लिए नहीं। राजनीति, राम के हाथों पड़, जन-जन की प्यारी हुई, आराध्या हुई। राम के प्रति भक्ति उमड़ी। इसी काल में राजनीति गांधी के हाथों में पड़, पवित्र श्रद्धा का केन्द्र बनी, लोहिया, दीनदयाल और जयप्रकाश के हाथ उसे सम्मान के क्षेत्र में सँभाले रहे, परन्तु दुर्भाग्य, आज, राजनीति जो कभी भक्ति की गंगोत्री से बही, श्रद्धा के क्षेत्र में फैली, प्रदूषण की भ्रष्ट गंदगी ले इतनी मैली हो गयी कि उसमें डुबकी लगाना तो दूर, उसके तट पर जाना भी नहीं भाता। राम की राजनीति को देख कौन अपना शीश नहीं नवा देता? गांधी के राजनीतिक दर्शन और आचरण के सामने कौन श्रद्धा से नमन नहीं करता? जयप्रकाश, लोहिया, दीनदयाल के चिन्तन और आचरण को कौन सम्मान नहीं देता? अब गांधी का आचरण कहाँ? लोहिया का संघर्ष कहाँ? दीनदयाल का चिन्तन कहाँ? कौन पृथ्वी है 'राम राज्य'? सत्तातन्त्र के सामने लोकतंत्र ओझल हो गया।

व्यक्ति पक्ष नहीं, पूर्ण है। पूर्ण का अंश है, पूर्णता की उसमें अभिव्यक्ति है। चिन्तन हो या आचरण, कर्म हो या घटना, सभी पक्ष एक साथ बैठे हैं। सब मिलकर एक हैं। न अलग हैं और न अलग हो सकते हैं। मनुष्य का समस्त कार्य-व्यापार एक अविभाज्य इकाई है। हम सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक क्रियाओं को अलग-अलग नहीं कर सकते। फिर भला राजनीति जीवन से कैसे अलग हो सकती है? समाज में रह राजनीति की डगर पर तो चलना ही होगा।

यह बात अलग है कि आज राजनीति विषैली हो गयी है। पूज्य बापू स्वयं कहते हैं "हमने राजनीति में प्रवेश इसलिए किया, क्योंकि आज राजनीति हमसे एक साँप की भाँति लिपटी है, जिससे हम अलग नहीं हो सकते, चाहे हम कितना ही प्रयास क्यों न करें। मैं साँप से लड़ना चाहता हूँ।" लड़ने का ढंग, बापू का, राजनीति को मारने का नहीं, राजनीति के विष को मारने का है। वह अपने प्रयास से, राजनीति की नागिन को, मुखद हार में बदलना चाहते हैं। उनका कथन है "मैं राजनीति में धर्म को प्रविष्ट करने की चेष्टा कर रहा हूँ क्योंकि धर्मविहीन राजनीति एक मौत का फन्दा है, जो कि आत्मा की हत्या कर देती है।" यह विष, यह मौत का फन्दा, भारत ने अपने जीवन के अध्यात्म से बदला है। जहाँ, मनुष्य केवल आर्थिक प्राणी है, वहाँ भौतिक धरातल पर, राजनीति, डसने वाली सर्पिणी है और जहाँ मनुष्य पशु न होकर, परमात्मा का विवेकशील अवतरण है, धर्म जिसकी दिशा है, वहाँ राजनीति समाज की चेरी है। भारत में व्यक्ति और समाज दोनों ही धर्माधारित हैं। अर्थ धर्म के द्वार से आता है, कामनाओं की तृप्ति, अर्थ से, धर्म के हाथों होती है, तब प्राप्त करने का प्रश्न आता है 'मोक्ष' का। धर्माधारित समाज भला कैसे भुला सकता है, लोक को।

भारत की राजनीति में, 'लोक' आराध्य है। तंत्र के मन्दिर में, लोक ही देवता है। उसी की साधना समाज करता आया है। इस मूल आवर्ण का दर्शन हमें वेदों में मिलता है। समाज एक रहे, बिखरे नहीं। एक 'आत्म' की धारा में बहता, सुदृढ़ राष्ट्र हो। इस राष्ट्र की वन्दना के लिए अथर्ववेद का पूरा पृथ्वीसूक्त हमारा राष्ट्रगीत है। 'संगच्छधम', 'संवदधम', 'समानं मनः' आदि उद्बोधन कर एकसूत्रता में समाज को बाँधने का सफल प्रयास है।

सबमें समान रूप से वही परम शक्ति तरंगायित है। सब उसी विराट् के अंग हैं। उसी की संतानें हैं, सब। वैदिक ऋषि कहता है "तुम सबकी माता भूमि है, तुममें न कोई बड़ा है और न कोई छोटा, सब मिलकर सौभाग्य के लिए बढो।" भारतीय संस्कृति ने सदैव अनेकता में एकता को देखा तथा शांति के लिए उसका प्रसार किया। सामंजस्य और समन्वय की यह भावना, सहिष्णुता के स्रोत में बही है। इसी स्रोत से निकल सामंजस्य और समन्वय लोकतंत्र की भागीरथी के रूप में, चल पड़ा। भारतीय संस्कृति का आधार यही सहिष्णुता है। लोक-भावना का चिन्तन, यही तो देती है। जन-जन के मन से निकलने वाली भावना, सहिष्णुता के आलोक से प्रकाशित हो, लोक-चेतना बनती है। सबकी इच्छा 'एक' बनती है। जिसका सामर्थ्य शासन चलाता है। राजा राम इसी मत के आगे नतमस्तक हैं। लोकमत का वह सम्मान करते हैं। तुलसी इसी दृष्टि को व्यक्त करते हैं कि राज-

कीय व्यवहार कोरी राजनीति से नहीं चल सकता, उसमें साधुमत और लोकमत का मेल अनिवार्य है—

“करिय साधुमत, लोकमत, नृपनय निगम निचोरि ;”

लोक की चिन्ता, राजा को बैसे ही रखनी है, जैसे घर का मुखिया घर की चिन्ता रखता है। मुख की तरह मुखिया सब-कुछ ग्रहण करता है, परन्तु वितरण अंगों की आवश्यकतानुसार और उपयोगिता की दृष्टि से करता है—

“मुखिया मुख सो चाहिए, खान-पान को एक।

पालइ पोपइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ॥”

इस लोक की चिन्ता, इसके हित के लिए चिन्तन, भारत में आदिकाल से चलता आया है। पं० जवाहरलाल नेहरू, इसी भावना को, १४-१५ अगस्त, १९४७ को व्यक्त कर उठते हैं “हमारे युग के महानतम पुरुष (गांधी जी) की महत्वाकांक्षा यह रही है कि प्रत्येक आँख से आँसू पोंछ दिया जाय।” उनके लिए भारत की सेवा का अर्थ था, करोड़ों नर-नारियों की सेवा, जो कि पीड़ित और दलित हैं। लोकहित के लिए चिन्तन करते हुए, विनोबा जी तो सत्ता को ही समाप्त करने की बात करने लगे। ‘स्व’ शासन उनका साध्य बना। सर्वोदय का आदर्श है अद्वैत और उसकी नीति है समन्वय। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्त्व है, लोक का महत्त्व है, परन्तु सत्ता का नहीं। सत्ता तो माध्यम मात्र है। लोक गया तो तंत्र किस काम का। इसलिए लोकतंत्र में लोक ही सब-कुछ है।

यही लोकहित भावना, इंग्लैण्ड में, मैग्नाकार्टा के अधिकार-पत्र में मुखरित हुई। अमेरिका में भी लोकहित का युद्ध लोक के पक्ष में गया। स्वित्जरलैण्ड तो पहले से ही लोक-भावना का घर रहा है। अफलातून, आदर्श राज्य उसी को मानता था, जिसमें मानव आत्मा के सभी गुण विद्यमान हों। इस लोक-भावना का सर्वत्र प्रकाश फैला। लोक को लेकर ही, वाद चले, तंत्र बदले, क्रान्तियाँ हुईं। लोक का स्वर ही सबसे ऊँचा स्वर बना।

धार्मिक जीवन में लोकचिन्तन

धर्म मानव-जीवन-यात्रा का संवल है, प्रकाश है, पावन बोध है, जिसे ले व्यक्ति उत्कर्ष की ऊँचाइयाँ छूता और बढ़ता ही चला जाता है। मानव की सभ्यता और संस्कृति के लिए, निकली असोष जय-यात्रा, इसी धर्म के प्रकाश में चलती चली आयी। भारतीय जीवन का तो कोना-कोना इसी प्रकाश से आलोकित रहा। पेट की भूख से लेकर आत्मा की भूख तक, यही संतुष्टि का साधन बना। भिखारी की कुटिया से लेकर, राजा के भवन तक यही जीवन का रक्षक बना। समाज की साधना इसी डगर पर चली। इसे छोड़ कोई न चला। व्यक्ति ने छोड़ा तो

व्यक्ति गया, समाज ने छोड़ा तो समाज गया। मेरुदण्ड है, यह जीवन का। अज्ञान सुख का भंडार। अपरमित प्रेम का सागर। कौन भला न चाहेगा, इस सागर में गोते लगाना? इसका बन्धन तो सुख का बन्धन है। पीड़ा देने वाली बेड़ियों का बन्धन नहीं, बेड़ियों और गुत्थियों को भकभोरने और तोड़ने वाली महत् प्रेरणा का स्पन्दन है। इससे व्यक्ति बनता है। समाज बनता है। इसके पतन से समाज का पतन होता है। धर्म मानव जाति की समाज शृंखला को अटूट रखने वाला प्रबल तंत्र है। जिससे लोक धारण किया जाय, वह धर्म है। “ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः।” जो लोक को धारण करे वह धर्म है “धरति धारयति वालोकम् इति धर्मः” और जो दूसरों से धारण किया जाय, वह धर्म है “ध्रियते यः स धर्मः।” जिससे इकाई बनी रहती है, जिससे उसकी रक्षा होती है, जिसके कारण इकाई इकाई है, वही तो उसका धर्म है। मनु की दृष्टि में जिन परिवर्तनशील उपायों से, व्यष्टि, समष्टि और ब्रह्माण्ड की रक्षा हो, वही धर्म है। इसी से व्यक्ति इस लोक और उस लोक की सिद्धि करता है “यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।” धर्म के हाथों धन की वर्षा होती है, सुख समाज में उतरता है, प्रत्येक साधन उससे प्राप्त होता है, विश्व उमी का प्रतिफल है, सार है। इसीलिए धर्म को जाते देख, ईश्वर धर्म स्थापना की चिन्ता करता है। धर्म ही शक्ति है, जिससे समाज चलता है। कानून और नियम समाज नहीं चलाते। धर्म को छोड़ समाज चलने लगे तो कानून कागजों में कैद रह जाता है, नियमों का नियंत्रण हवा में उड़ जाता है। सच्ची व्यवस्था तो धर्म की व्यवस्था है। न राजा है, न राज्य, न दण्ड है न दण्ड देने वाला, अपने-अपने धर्म से सब बंधे आपस में सब एक-दूसरे की रक्षा करते हैं। यह है लोक की सच्ची साधना—

“न वैराज्यं न राजासीत्, न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मैव प्रजा सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥”

भारतीय लोक का तो, धर्म प्राण है। विदेश की धरती साधन की धरती है। रूस रोटी के लिए दौड़ता है तो इंग्लैण्ड व्यापार के लिए, अमेरिका पूंजी के लिए बेचैन है तो फ्रान्स राजनीति के लिए। रोटी गयी तो रूस गया, व्यापार मिटा तो इंग्लैण्ड मिटा, पूंजी छिनी तो अमेरिका छिन्न-भिन्न हुआ, राजनीति टूटी तो फ्रान्स टूट गया। परन्तु भारत किसी के मिटाये न मिटा। रोटी छिनी, गद्दी छिनी, व्यापार छिना, पूंजी भी छिन्न गयी, परन्तु भारत भारत रहा। भारत का प्राण न रोटी है, न गद्दी, न पूंजी है, न व्यापार। यह तो धर्म की धरती है। यह तो साधक और साधना की धरती है। धर्म ही इसे सँभालता है। इसलिए भारत की राजनीति भी धर्म के ही रास्ते चलती है। गांधी के लिए राजनीति, यदि धर्मरहित है, तो शव बन जाती

है। धर्मविहीन राजनीति मौत का फन्दा है। ऋषि दयानन्द हों या स्वामी विवेकानन्द, तिलक हों या गांधी, प्राण देश में धर्म के स्वर्णों से ही स्पंदित हुआ।

सत्याग्रह क्या धर्म के सम्बल बिना ही चला? सम्बन्ध और आत्मीयता ही तो इसे शक्ति प्रदान करती है। सब एक ही है, तभी तो एक की बात, दूसरों को हिला देती है। मानव प्रवृत्तियों का समस्त क्षेत्र अविभाज्य है। व्यक्ति की प्रकृति एक है। सब जानते भी है और मानते भी है परन्तु आचरण जंगल का है। कोई भी मत, कोई भी पंथ, कोई भी सम्प्रदाय, कोई भी मजहब, इस धारणा से अलग नहीं फिर भी आचरण एक-दूसरे को समाप्त करने का है।

धर्म की राह पर चलते हुए, व्यक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मानता हुआ, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा करता है। सबसे ईश्वर के दर्शन करता हुआ वह स्वयं को समष्टि हित समर्पित करता है। सबै भूमि गोपाल की मान, वह कुछ लेता नहीं चाहता। प्राणिमात्र की सेवा में रत होता है। उतना लेता है, जितना आवश्यक है। अधिक लिया तो चोर बनता है। यज्ञ करता हुआ समाज हित अर्पित होता है। छोटे स्वार्थ को बड़े हित के लिए छोड़ता जाता है। कुल को ग्राम के लिए, ग्राम को जनपद के लिए, जनपद को राष्ट्र के लिए छोड़ते देर नहीं लगती। व्यापक हित में, अपना हित निहित रहता है। तुलसी सबके हित को ही दृष्टि में रख कहते हैं—

“कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई।”

समाज में रह, समाज का न हुआ, तो पशु है, मनुष्य नहीं। समाज के लिए, सेवा का पाठ किस मजहब ने नहीं दिया। दूसरों के लिए जीने वाला ही सराहा गया। वही सदा सम्मानित हुआ, जो औरों के काम आया। समाज की नींव ही, इसी समर्पण पर टिकी है। संवेदन ही तो बाँधने वाला तत्त्व है। इसी में लोक-दृष्टि छिपी है। लोक की साधना प्रेम हो, या भक्ति, श्रद्धा हो या दुलार, इसी संवेदन की धारा से होती है। सम्बन्ध बनते हैं। व्यक्ति अपने से बड़ लोक की सोचने और करने के लिए विवश होता है। लोकचिन्तन इसी चेत से बढ़ता है। बिन्दु-यात्रा करता हुआ, सिन्धु का व्याप बनता है। 'आत्म' लोक का विराट् रूप बन चमकता है। इसकी साधना ही, व्यक्ति की अमर साधना है।

प्रेमचन्द की कहानी 'कफ़न' : एक दृष्टि

कहानी 'कफ़न' बुधिया और माधव की कहानी नहीं। यह किसी वर्ग और जाति की भी कहानी नहीं। यह तो सत्य का उद्घाटन है। वह भी पूर्ण और पवित्र। इतना पूर्ण और पावन कि प्रत्येक के अन्दर बैठा सत्य उसे अपना ही स्पर्दन अनुभव करता है। उसके भाव, प्रत्येक के भाव बन जाते हैं। उसके संवेदन, प्रत्येक के संवेदन बनते हैं।

बुधिया और माधव तो मात्र माध्यम हैं। वर्ग और जाति तो 'सत्य' के उद्घाटन के लिए उपयुक्त परिस्थिति की परिधि है, जिसमें व्यक्त हो 'सत्य' बोल उठता है। यह सत्य, समाज का सत्य है। यह सत्य समाज की चेतना का सत्य है। समाज की दृष्टि का सत्य है।

यह कहानी कल्पना का परिणाम नहीं। केवल मस्तिष्क की उपज नहीं। न ही यह है मात्र समाज के किसी वर्ग का वह चित्र जो साहित्यकार के मानस पर उतरा हो और साहित्यकार ने अपने शब्दों में बाँध हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया हो। यह तो भारतीय संस्कृति के चैतन्य का वह वेगवान् स्पर्दन है, जिसे साहित्यकार अपने में रोक नहीं पाता और पात्रों के माध्यम से फूट पड़ता है।

यह चैतन्य साहित्यकार की कृति में स्वतन्त्र अस्तित्व ले बैठा है। तभी तो, साहित्यकार की कृति स्वतंत्र होती है, परतंत्र नहीं। अपनी व्याख्या और अपनी दृष्टि के लिए साहित्यकार की मोहताज नहीं। स्वयं बोलती है, वह। परन्तु एक शब्द या एक वाक्य भाव और अर्थ समझा नहीं सकता। सम्पूर्ण कृति ही अपनी दृष्टि व्यक्त करती है। भवन में बना देवालय, पूरे भवन को देवालय नहीं बना देता। भोजनालय से लेकर देवालय तक बने सभी कक्ष मिलकर भवन की इकाई का बोध कराते हैं। वहाँ की समग्रता में पलने वाला जीवन ही इकाई का सही बोध देता है।

'कफ़न' कहानी भारत की धरती की कहानी है। जहाँ वादों का विवाद नहीं, पूर्णता का बोध है। अधिकार की आँधी नहीं, कर्तव्य की भागीरथी है। कर्तव्य भी 'स्व' के कूप में गोता नहीं लगाता, समष्टि के सागर में रमता है। धर्म की धरती पर, कर्तव्य के चरण पड़ते हैं। और यह धर्म मजहब या रेलीजन का पर्यायवाची नहीं। मत या पंथ नहीं। अस्तित्व की अविचार्यता है।

दृष्टि डालें इस कर्म-बोध की कहानी पर, जन्म से लेकर मरण तक की

कहानी है, अभाव से लेकर प्रभाव तक की कहानी है, भौतिक भूख से लेकर आध्यात्मिक स्वर्ग के सुख तक की कहानी है, शराब के नशे में विकृति के गह्वरे से लेकर, विवाह के पावन संस्कार की स्मृति और बोध तक की कहानी है, घोर निराशा से लेकर पूर्ण आस्था तक की कहानी है, अकर्मण्यता और आलस्य से लेकर कर्मण्यता के शिखर तक की कहानी है, घृणा से लेकर पवित्र श्रद्धा तक की कहानी है, भीख से लेकर दान तक की कहानी है। कोई भी पक्ष तो ओझल नहीं। सभी पक्षों में एक ही दृष्टि दौड़ रही है और वह है कर्म की उपासना।

कर्म न करना, अकर्मण्यता ही नहीं, वह तो कर्म के लिए जन्मे इन्सान को सामर्थ्य और कुशलता की हत्या है, समाज के लिए समर्पित होने वाले सेवा कर्म की, कोश में ही वृथास हत्या है, जिसके कारण भिषावृत्ति और चोरी एक ओर पनपती है तो दूसरी ओर भ्रष्टाचार और अन्याय पलता है। फिर भला ऐसी अकर्मण्यता को क्यों न धिक्कारा जाय, उससे घृणा क्यों न की जाय ?

‘कफन’ के बीसू और माधव इसी अकर्मण्यता के, चलते-फिरते, पुतले हैं। “बीसू एक दिन काम करता तो चार दिन आराम” और “घर में मृदुली भर अनाज मौजूद हो तो उनके लिए काम करने की कसम थी” काम से उनका कोई वास्ता नहीं। जबसे बहू बुधिया आयी, तब से तो “दोनों और आलसी और आरामतलब हो गये।” ऐसी अकर्मण्यता कि पशुता भी शरमा जाय। बहू प्रसव वेदना से कराह रही है और “भोपड़े के द्वार पर बाप और देटा दोनों, एक बुझे हुए अनाज के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं” कोई चिन्ता नहीं। कोई संवेदना नहीं। कोई उत्साह नहीं। फिर कर्म कैसा ?

पीड़ा से छटपटाती बुधिया को, पड़ोस में किसी को दिखाना, बुलाना तो दूर वह स्वयं भी देखना नहीं चाहते। कौन लठे ? उसके लिए दवा और खाते की चिन्ता की बात ही कहाँ ? जब अलाव से हटना भी नहीं संभव। आलस्य और आराम के लिए, सारे सम्बन्ध समाप्त। बुधिया का दर्द, उनके लिए कोई दर्द नहीं। घर में लक्ष्मी आने वाला है, परन्तु उन्हें कोई उत्साह नहीं। इसलिए कर्म भी नहीं।

उन्हे चिन्ता है तो केवल इस बात की कि उनको आराम में खलल न पड़े। वे चाहते हैं कि “जल्दी मर क्यों नहीं जाती ?” वे दोनों इसी इन्तजार में थे कि वह मर जाय तो आराम से सोयें।

इस अकर्मण्यता से, इस आलस्य से कौन नहीं घृणा करेगा ? भला कोई भी बीसू पर दया करेगा ? भला कोई भी माधव पर दया करेगा ? इनका आलस्य दुष्टता और नीचता की भी सीमा पार कर गया है। अकर्मण्यता के प्रति घृणा

निरीहता और अकर्मण्यता के जीवन से आगे बढ़, व्यक्ति का वह जीवन मिलता है, जहाँ वह केवल अपनी चिन्ता करता है। अपनी भी पूरो कहाँ ? न दिल की बात है, न दिमाग की। न आत्मा की बात है, न परमात्मा की। केवल बात है अपनी भूख की, अपने मजे की। अपना शरीर ही सब-कुछ है। उसी की भूख उसे दौड़ाती है। चाहे रोटी हो या कपड़ा, मकान हो या मनोरंजन। बस अना चाहिए, अपने लिये चाहिए। न उसे माँ की चिन्ता है और न पिता की। भाई-बहन का प्रश्न ही नहीं उठता। मित्रों की दुनिया तो बहुत दूर। सबसे छीनना और लूटना ही है, उसे। कैसे भी हो, वह बने। इस लूट की प्रक्रिया में उसकी पाशविक वृत्तियाँ ही चलती हैं। काया ही डोलती है। हाथ बढ़ते हैं। चरण चलते हैं। बुद्धि नहीं चलती। बुद्धि से उसका लगाव नहीं। विकास की यात्रा पर, बस अकर्मण्यता ही छूटी है, आलस्य ही भागा है। भूख के लिए औरों पर निर्भरता भागी। उसने स्वयं अपने कायिक अस्तित्व को संभाला है। पर है वह सीमित इसी अपने कायिक अस्तित्व में। आहार, निद्रा, भय और मैथुन का ही संसार उसका संसार है। यह संसार, विकास का, प्रथम चरण है।

विकास का पहिया आगे घूमा, तो उस स्थल पर पहुँचा जहाँ व्यक्ति काया के साथ, मस्तिष्क को भी जोड़ बैठा। बुद्धि ने साथ दिया। समस्त प्रयास बुद्धि से संचालित हुए। समाधान सरल बने। सफलता सहज हुई। सम्पदा लौटने लगी। परन्तु सब कुछ रहा, अपने जीवन के ही लिए। स्वार्थ की संकुचित कारा से बाहर न निकला। अपना तन देखा, अपना मन देखा, अपना घर देखा, अपना यश देखा, अपना वैभव देखा और अपना ही विकास देखा। समस्त बुद्धि, अपने को ही समर्थ बनाने में जुटी। रूप कोई भी बना, चाहे सामान्य व्यक्ति का या सम्पन्नतम व्यक्ति का, परन्तु रहा वह अपने स्वार्थ का बन्दी। इतना अवश्य हुआ कि उसके प्रमाणों को बुद्धि ने भाँजा, संभाला और सुन्दर स्वरूप में ढाल दिया। शैली बदली, व्यवहार बदला।

व्यक्ति बना, बहुत बना, परन्तु समाज के लिए नहीं बना। औरों की तो बात दूर, वह अपने के लिए भी नहीं बना। उसकी आसमान चूमती अट्टालिका, भाई की सिसकती भोपड़ी को दो तिनके भी न दे सकी। दो दिन से भूखी, रोटी के लिए बिलखती भाई की बिटिया, टकटकी लगाये, इस अट्टालिका में जलेबी पर टूटते कुत्तों को देखती तो रही, परन्तु तिनका भी एक न पा सकी। पाती कैसे ? हृदय था कहाँ ? आत्मा और परमात्मा की तो बात दूर रही, हृदय की घड़कन तक न समझी। बस अपनी बुद्धि अपने स्वार्थ पूर्ति का ही साधन बनी। इतना ही विकास हुआ कि काया बुद्धि से जुड़ी। बुद्धि ने काया को संचालित किया। सफलता आयी, पर केवल अपने आँगन. अपने घर। यह विकास का दूसरा चरण बना।

सौभाग्य से स्वार्थ की दीवारें दरकी। हृदय की धड़कन जगी, तो एक-एक दीवार ढहने लगी। दीवार गिरते ही संकीर्णता हटी और आंगन विस्तीर्ण बना। अपने घरों से व्यक्ति निकला। देखा-समझा। अपनापन बढ़ता गया। अपना आपन लाँघ, अपने गाँव और गाँव की सीमा पार कर क्षेत्र भर में फ़ैल गया। शरीर और बुद्धि के साथ, हृदय का सम्बन्ध जुड़ा। आवश्यकताओं की पूर्ति हुई। पूर्ति स्वयं उसने की और वह भी बुद्धि के बल से, उत्तम रीति से, परन्तु अब केवल उसकी ही आवश्यकताएँ नहीं रही। पूर्ति के घेरे में संतुष्टि की सीमा में, उसके परिवार-जनों की, उसके मित्रों की, उसके व जाने कितने अपनों की और भी आवश्यकताएँ आ दैठी। पूर्ति ने सबको संतुष्ट किया। वह इस संतुष्टि में अपनी ही संतुष्टि पाता था।

अपने स्वार्थ को केन्द्र मान, उसी के चारों तरफ दौड़ने वाला, बन्द आँखों वाला बैल, अब वह नहीं रहा। परिधि फ़ैल गयी। केन्द्र बदला। अपने से अधिक अपनों का हित लगा। माँ का, पिता का, बहन का, भाई का, पुत्र का, पुत्री का, मित्र का, न जाने कितने अपनों का हित इस परिधि में घँसता ही चला गया। इतना ही नहीं, स्वयं का हित इन हितों में विलीन होने लगा। हृदय ने मस्तिष्क की लगाम अपने हाथ में सँभाल ली। मस्तिष्क उसी पूर्ति में जुटा, जिधर हृदय ने संकेत किया। हृदय ने व्यक्ति को समर्पण का पाठ पढ़ाया। समाज हित आगे बढ़ना सिखाया। विकास का एक और स्तर प्राप्त किया उसने। स्वार्थी पशु से वह, समाज साधक बना। समाज हित जीना सीखा।

इसी स्तर पर समाज की गाड़ी ने दौड़ना सीखा, जो असहाय बनी किसी तरह अपने घटकों में जी रही थी। अलग-अलग व्यक्तियों में, अलग-अलग जीवन जी रही थी। वह हृदय की धड़कन चलते ही, बुद्धि के साथ हृदय के जुड़ते ही, सम्बन्धों के उन स्नेहित धारों से बँधी कि विकास की सीढ़ी पर दौड़ते देर न लगी। अलग-अलग दिखने वाले सब मिल एक बने। ध्यार ने छोटों को बाँधा। श्रद्धा ने बड़ों को जोड़ा और भक्ति ने सबको समेट लिया। दूसरों के हित जीने की इस धारा ने समाज का गठित स्वरूप सामने रख दिया।

व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति हुई। उसका विकास हुआ। इस सुवर्णयुग स्तर तक वह पहुँचा, उसी के साथ समाज का स्वरूप भी निखरा। यह स्तर, समाज के लिए सर्वाधिक महत्त्व का स्तर बना।

सामाजिक स्तर की यह सर्वोच्च चोटी नहीं। यह तो मात्र समाज बाँधने और सुख साधने की सामान्य स्थिति है। समाज की आवश्यकता है, इस स्थिति को सहज ही प्राप्त करना। आवश्यकता इस स्तर से आगे बढ़ मस्तिष्क उस कैसाई

को छूता है, जहाँ वह सबको अपना ही पाता है। सबका सुख उसका सुख बनता है। सबका दुःख उसका दुःख होता है। आत्मा भला आत्मा से दूर कैसे भाये ? सबमें जब वही विद्यमान है, तो सब में एक ही जीवन-तरंग भी, एक ही अनुभूति भी। जिस तरंग के उठते ही, व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता, समष्टि बन जाता है। कुछ भी तो उसका समष्टि से अलग नहीं। सभी का, वह बन जाता है। काया के साथ मस्तिष्क चला, मस्तिष्क को हृदय मिला और हृदय को आत्मा ने जाकर पकड़ लिया। संपूर्ण व्यक्ति—काया, मस्तिष्क, हृदय और आत्मा, समाज का अंग और प्रतिनिधि बन, समर्पण की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। अपने लिये तो जीवन उसका स्वभाव ही नहीं, समष्टि हित ही वह बना है।

कर्म की यात्रा, जो अकर्मण्यता के सून्य बिन्दु से प्रारम्भ हुई, आलस्य और अभाव के आँगन से जो बली, घृणा और तिरस्कार के निकृष्टतम क़ोड़ से जो निकली, अपने लिये शरीर साधना की व्यवस्था में जुटी, तो आलस्य के भागते ही अभाव ने विदाई ली और घृणा, तिरस्कार का पता भी न चला। बुद्धि ने दीक्षा दी तो सम्पन्नता चरण में लोटने लगी, हृदय ने हाथ साधा तो समाज का आँगन सरसता से भ्रम लठा और पाते ही सम्बल आत्मा का, यात्रा अपने लक्ष्य पर पहुँच गयी, जहाँ सभी कुछ गोपाल का था। स्वार्थ तिररोहित था।

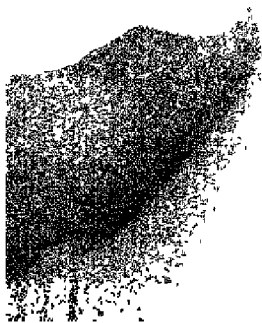
समाज जीवन में, व्यक्ति के विकास-स्तर, इसी यात्रा के पड़ाव हैं। जैसे-जैसे समाज का पथ आगे बढ़ता है, संस्कृति उसे संभालती है। सभ्यता उसे साधती है। स्तर बढ़ता जाता है। अवश्य ही वह काल रहा होगा, जब प्रकृति ही व्यक्ति को पालती होगी, वह हाथ भी न हिलाता होगा। समय ने उसे श्रम का पाठ सिखाया होगा। विकास ने बुद्धि से नाता जोड़ा होगा और साधन सम्पन्नता से ही अपना मुँह आता न देख, समाज में घुलने और मिलने की ललक दौड़ी होगी। इस विकास के जुड़ते ही समस्त विश्व अपना लगा होगा। कुटुम्ब बन गया होगा यह विश्व। “आत्मवत् सर्वभूतेषु” का भाव आचरित होने में देर न लगी होगी।

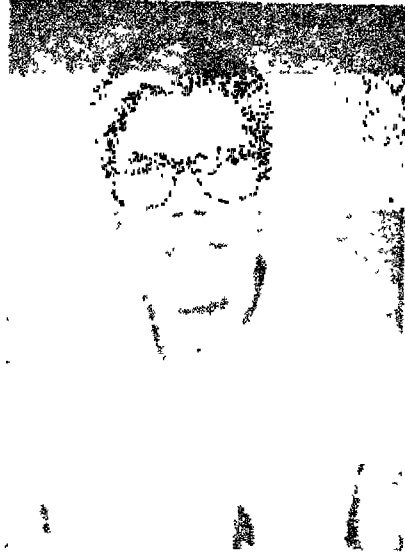
प्रारम्भ में अपनी ही चिन्ता न रही। कर्मण्यता भायी, परन्तु हित-अनहित की बुद्धि नहीं। कितनों का ही अहित हो, अपना भी अहित हो, पर कर्म न था। समझ ने साथ दिया, तो अपना हित दिखा, भले ही दूसरों का कितना ही अहित क्यों न हो। संस्कार जुड़ा तो औरों का अहित कर न सका, परन्तु हित अपना ही भाया। संस्कार का हाथ बोध ने थामा तो अपने साथ ही, औरों का भी साधने वाला काल, इसी के पीछे जुड़ा था, बुद्धि से श्रम की गाड़ी हाँकने वाला कृषक और शिल्पकार। जिसके आते ही परिवार, समाज और राज्य का ढाँचा खड़ा हुआ, हृदय की देन थी यह। न जाने कितनी सामाजिक संस्थाएँ विकसित हुईं। समाज-सेवा

हित, जन-जन की पीड़ा ले, न जाने कितने निकले ! ऐसे भी लोग निकले, जो जन-जन को अपना भान, इस विराट् अस्तित्व की सेवा में जुट गये ।

आज समाज में ये पाँचो स्तर विद्यमान हैं । अकर्मण्य, बुद्धिहीन और हृदय-शून्य, भिखारी समाज, प्रारम्भिक स्तर पर हैं । मजदूरी करने वाला, मेहनतकश समाज, विकास के प्रथम स्तर में है । बुद्धि से अर्जन करने वाला कर्मचारी, व्यापारी, कृषक दूसरी कोटि में हैं । समाज हित सेवा में जुटे, विभिन्न संस्थाओं में कार्यरत लाखों कार्यकर्ता तीसरी कोटि में आते हैं । चतुर्थ कोटि में आते हैं वे महा-पुरुष जो अपने लिये न चलते हैं, न करते हैं, न जीते हैं । सभी कुछ समाज हित ही है । ऐसे महापुरुषों का भी अभाव नहीं ।

जिस देश और समाज में, समाज हित जीने वाले व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होती है और अकर्मण्य बुद्धिहीनों की संख्या जितनी कम होती है, वह उतना ही सुसंस्कृत और सभ्य समाज होता है ।





लेखक

डा० ब्रह्मदत्त अवस्थी

जन्म तिथि : २० जुलाई १९२७

पुत्र : श्री मुन्शी लाल अवस्थी

निवास : नगलादीना, फतेहगढ़, फर्रुखाबाद

शिक्षा : एम० ए० (भूगोल), एम० ए० (हिन्दी)

पी-एच० डी०, एल-एल० बी० ।

प्रकाशन : कैक्टस [नाटक], एक देश एक जन,

राष्ट्रवाद और धर्म निरपेक्षता,

स्वाधीनतोलर हिन्दी नाटकों में

लोकतांत्रिक मूल्य [शोध प्रबन्ध]

प्रमुख पत्रिकाओं में निबन्ध लेखन

सामाजिक कार्यकर्ता और विचारक के साथ ही
ओजस्वी वक्ता ।

वर्तमान में : अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)

भारतीय महाविद्यालय, फर्रुखाबाद